श्री गुरु गोविन्दसिंह

महाकाव्य

891.431
श्याम-गु
(16625)

श्याम नारायण प्रसाद

श्री गुरु गोविन्दसिंह

[महाकाव्य]

कितना ही उपमाएँ, संज्ञाएँ, एवं सम्मान-सूचक सम्बोधन इस महापुरुष के प्रति दिये गये हैं। भगवान श्री कृष्ण की तरह गुरु गोविन्दसिंह भी अलौकिक व्यक्ति एवं अनेकानेक गुणों के धनी-एवं रसों के स्वामी थे। भक्ति-शक्ति धर्म और राजनीति-शस्त्र-एवं शास्त्र के एक साथ प्रयोग के वह सन्देशवाहक थे। वही परम्परागत भारतीय विचारधारा की जो विशेषता है जिसमें भारत के अस्तित्व का रहस्य छुपा है उसके ही वह प्रणेता थे।

उसी परम पुरुष दशम गुरु के पावन चरित्र का काव्यमय रूपक की कृति निश्चय ही रोचक एवं अलौकिक होनी स्वाभाविक है।

काव्य के लेखक कवि श्याम नारायण, जो दुर्दैव से अब हमारे बीच नहीं रहे, कहा करते थे कि भारत की इस महान विभूति पर लिखते समय ही रोमांच हो आता है और तेज और ओजमय प्रसंग एवं भाषा तो स्वतः लेखक की प्रेरणा एवं पथप्रदर्शक बन जाती है। गुरु तेग बहादुर जैसे महान सन्त और योद्धा का वंश एवं सिख गुरुओं की उज्ज्वल परम्परा का निर्वाह इस सन्त शूरवीर-प्रतिभा के विद्वान ने—राष्ट्र नायक की तरह करते हुए प्राणों से प्यारे अपने पुत्रों को राष्ट्रीय स्वधर्म पर न्योछावर करके बलिदान की अमर कीर्ति स्थापित की—उसी आपत पुरुष का यह काव्य रूपक है।

• • •

राजधानी की परम्परा से

श्री

गुरु गोबिन्दसिंह

महाकाव्य

ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ

ਮਹਾਂਕਾਵਿ

(ਹਿੰਦੀ)

श्री

गुरु गोबिन्दसिंह

महाकाव्य

ले०

श्यामनारायण प्रसाद

भूमिका

डा० हरिभजनसिंह

एम० ए० पी० एच० डी०

वाईस प्रिन्सिपल खालसा

कालिज दिल्ली-५

राजधानी ग्रन्थागार, नई दिल्ली-१४

प्रथम संस्करण जनवरी, १९६७

सार्वजनिक पुस्तकालय, सरदारशहर
अर्जाप्त संख्या 16625
वर्ग संख्या 891.431
पुस्तक संख्या श्याम-गु

© लेखकाधीन

प्रकाशक
राजधानी ग्रन्थागार
59-H-IV लाजपतनगर, नई दिल्ली-१४
पृष्ठ संख्या (२०९+१४)
मूल्य ८.५० आठ रुपया पचास पैसा
मुद्रक जीवन शिक्षा मुद्रणालय, वाराणसी

Shri Guru Gobind Singh (Maha Kavya) (Hindi) Price Rs 8.50

१३३२६

दशम गुरु की पावन स्मृति में—

सार्वजनिक पुस्तकालय
जवाप्ति सं.....
व. सं.....
पु. सं.....
सरदारशहर (राज०)

कृति-कृतिकार एवं हमारा दायित्व

कवि श्री श्यामनारायण प्रसाद

जन्म—(१ जुलाई, १९२७)—
निधन—(१७ जुलाई, १९६६)
ग्राम—भोपापुर, जिला वाराणसी

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्बन्ध में किसी भी प्रकाशकीय दायित्व के निर्वाह के पूर्व इसके प्रणेता एवं रचयिता स्वर्गीय श्री श्यामनारायण प्रसाद के प्रति स्मृति-सुमन अर्पित न करना घोर कृतघ्नता होगी। कुछ व्यक्ति जीवन में इस तरह के आते हैं कि जिनके सहज-सरल व्यक्तित्व का स्पर्श हमारी अनुभूतियों का स्थायी उद्गार बन जाता है। श्री श्यामनारायण प्रसाद भी ऐसे ही सहज-सरल व्यक्तित्व के धनी थे। उन्हें देखकर कहा जा सकता था कि वह स्वयं प्रकृति का काव्य-रूपक हैं, और वस्तुतः कवि का यही नैसर्गिक स्वरूप भी होता है।

गत वर्ष १७ जुलाई को ३९ वर्ष की भरी-पूरी जवानी में 'गुरु गोविंदसिंह महाकाव्य' के रूप में हमें अपना अमर स्मृति-उपहार भेंट कर कवि ने चिर विभ्रांति ले ली। यद्यपि इसके पूर्व उनके दो ग्रन्थों 'महारानी झांसी' एवं 'पन्ना दाई' ने काफी लोकप्रियता अर्जित की—महारानी झांसी पर तो उत्तर प्रदेश सरकार का पुरस्कार भी उन्हें प्राप्त हुआ—तथा एक साहित्यकार के रूप में उन्होंने दो उपन्यास एवं कुछ बाल-साहित्य भी लिखा, तथापि, निस्संदेह, उनकी काव्य-कला का चरमोत्कर्ष उनकी इस अंतिम कृति 'गुरु गोविंदसिंह महाकाव्य' में ही हुआ है, जैसाकि उनके सहयोगी कविवर श्री लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' ने अपनी टिप्पणी में स्वीकार किया है। ग्रन्थ की प्रमाणिकता के सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि हिन्दी पंजाबी के मर्मज्ञ विद्वान एवं सिख-इतिहास के अध्येता एवं जानकार डा० हरिभजन सिंह ने पूरी पाण्डुलिपि पढ़कर भूमिका लिखना स्वीकार किया था और उन्होंने जो भूमिका लिखी वह पाठक आगामी पष्ठों में पढ़ेंगे।

समय का अभाव था। दशमेश पिता गुरु गोविंदसिंह की तीन सौ वर्षीय जन्म-शताब्दी १६ से २८ जनवरी को देश-भर में मनाई जा रही है। काव्य-ग्रन्थ की दृष्टि से यह गुरु गोविंदसिंह पर प्रथम कृति है और इसलिए भी इसका स्थायी महत्व है। स्वर्गीय कवि की भी यह स्वाभाविक इच्छा थी कि पहले न सही, लेकिन इस पावन अवसर पर गुरु के प्रति उनका यह श्रद्धा-सुमन अवश्य ही अर्पित किया जाय।

मैं सर्वप्रथम कवि एवं अपनी ओर से दशमेश पिता गुरु गोविंदसिंह के चरणों में श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ। समस्त भारत राष्ट्र, विशेषकर हिन्दू-जाति उनकी ऋणी है। धर्म, संस्कृति और राजनीति का, या यूं कहिए भक्ति और शक्ति का अद्भुत् समन्वय उनके व्यक्तित्व में था। इतना ही नहीं, वह हिन्दी (नागरी) के महान कवि थे—गद्य एवं पद्य दोनों में गुरु ने रचनाएं कीं।

जैसाकि डा० हरिभजन सिंहजी ने अपनी भूमिका में संकेत किया है, परम पुरुष गुरु गोविंदसिंह का वही महत्व है, जो योगिराज श्रीकृष्ण का था, जिन्होंने एक साथ शस्त्र और शास्त्र उठाने का आवाहन किया था। इसी कारण उन गुरु का नाम भारत के प्रथम कोटि के महापुरुषों एवं आपत पुरुषों एवं धर्म-गुरुओं की श्रेणी में पहली पंक्ति में आता है।'

काश कि कवि नारायण आज जीवित होते और अपने ग्रन्थ का विमोचन तथा गुरु उत्सव को देखते। किन्तु दुर्दैव से ऐसा नहीं हुआ। मैं उनको श्री गुरु के आशीर्वाद के प्रसाद से यहां श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं।

किन्तु यहां मेरा एक और भी दायित्व है। डा० हरिभजनसिंह साहब एवं पं० लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' का विशेष रूप से आभारी हूं, जिनके सहयोग से यह कृति न केवल पाठकों तक पहुँची है, बल्कि दशम गुरू के जन्म-शताब्दी समारोह में स्मृति-ग्रन्थ के रूप में अपनी भूमिका निभा रही है। हिन्दी जगत में निश्चय ही एक महान पुरुष के जीवन का यह काव्य-रूपक महाकाव्य के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र में भी अपना स्थान स्वयं बनायेगा।

—रामतीर्थ भाटिया

संचालक

राजधानी ग्रन्थागार

—* पाठक, कृपया ध्यान दें *—
पुस्तक पर कुछ भी लिखना, चिन्ह लगाना, पन्ने मोड़ना या फाड़ना, उसे चिकना व गन्दा करना, धूप या वर्षा में रखना, फैंकना, सपाटा मारकर पन्ने पलटना, संक्षेप में उसे और उसकी जिल्द को किसी भी तरह से क्षति पहुँचाना, पुस्तक दूसरों को देना अथवा समय पर जमा न कराना आदि कार्य सख्त मना।

भूमिका

डा० हरि भजन सिंह

एम० ए०, पी-एच० डी०

वाइस प्रिंसिपल

खालसा कालेज, दिल्ली

गुरु गोविन्दसिंह और हिन्दी काव्य एक-दूसरे के अन्तरंग मित्र रहे हैं। गुरुजी कवि थे, कवियों के संरक्षक थे एवं उनके प्रेरणा-स्रोत थे। उन्होंने तत्कालीन इतिहास की गतिविधि को प्रभावित किया और अपने समय की हिन्दी काव्य-धारा को भी नयी दिशा दी और नया वेग भी। हिन्दी काव्य की एक अत्यन्त स्वस्थ सृजनधारा आज तक उसी दिशा में लगभग उसी वेग से प्रवाहित है, इसीसे गोविन्दसिंह के गुरु-प्रयास का महत्त्व आंका जा सकता है।

श्यामनारायण प्रसाद द्वारा लिखित प्रस्तुत महाप्रबन्ध का पारायण करते समय मेरा मन बार-बार गत तीन शताब्दियों के उस हिन्दी काव्यक्षेत्र में घूमता रहा है, जो प्रबल-प्रचण्ड राष्ट्रभावना से आन्दोलित था। हिन्दी काव्य-क्षेत्र नागरी भूभाग से विशालतर एवं गहनतर है, इस अत्यन्त स्पष्ट तथ्य को अभी हिन्दी विद्वानों ने पूर्णरूपेण स्वीकार नहीं किया। सिख गुरुओं ने पंजाब में इसी राष्ट्रीय सत्य का बीजारोपण किया था, गुरु गोविन्द सिंह ने इसे अपने सत्प्रयास से पुष्पित, पल्लवित होते देखा। गुरु गोविन्द सिंह हिन्दी काव्यधारा के प्रथम सचेत राष्ट्रीय कवि हैं। हिन्दी वाङ्मय में उन्होंने जो विद्रोहाग्नि सुलगाई, उसे उन्हींके आश्रित बावन कवियों ने प्रचण्डतर रूप देने का यत्न किया। गुरु गोविन्द सिंह की सुनिर्दिष्ट प्रेरणा के फलस्वरूप वीर-कर्म और वीर-काव्य समानान्तर, जीवन्त धाराओं के समान प्रवाहित रहे। जीवन एवं काव्य का ऐसा सहज-स्वाभाविक सुमेल अन्यत्र दुर्लभ है। गुरु-नगर आनन्दपुर में या तो अस्त्र-शस्त्रों की कटकटाहट सुनाई देती थी या वीर-छन्दों का ओजस्वी, अक्खड़ संगीत। गुरुजी के दिवंगत होने के पश्चात् भी शोर और संगीत का यह

अनूठा संगम ढाई सौ वर्ष तक चलता रहा है। सिख-शूर अत्याचारी शासन के विरुद्ध लड़ते-जूझते रहे हैं और सिख कवि उनकी जय-कथाओं का आख्यान भारत-भाषा हिन्दी में करते रहे हैं। पंजाबी शौर्य की राष्ट्रीय अभिव्यक्ति के लिए हिन्दी भाषा और हिन्दी छन्दमाला का प्रयोग पंजाब के वीर कवि निस्संकोच भाव से करते रहे हैं। आणी राय, सेनापति, सुक्खा सिंह, रतन सिंह मंगू, भाई संतोखसिंह, ज्ञानी ज्ञान सिंह, प्रेम सिंह संतरेण आदि समर्थ कवि इसी पथ के पथिक हैं। प्रादेशिकता और राष्ट्रीयता एक-दूसरे की पूरक हैं, विरोधी नहीं। वे एक ही प्राणधारी इकाई के दो अविभाज्य अंग हैं, ऐसा निर्भ्रान्त संकेत उपरोक्त कवियों की वाणी में ध्वनित है। गुरुमुखी लिपि में लिखित हिन्दी काव्य में पंजाब की वीरभुजा समस्त भारत की ओर प्रसारित दिखाई देती है। भारत की भावात्मक एकता की ऐसी सरल-स्पष्ट अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। इनका अध्ययन करते समय किसी भी हिन्दी-भाषी को प्रतीत होता है कि उनका अपना ही आत्मीय उनसे उनकी अपनी ही चारित्रिक गरिमा की कथा कह रहा है। कथा सुनने के पश्चात् जिन वीर-भावों का उदय होता है, वे बाहर से आरोपित प्रतीत नहीं होते; लगता है जैसे उनके भीतर ही वीरता का चिर-प्रसुप्त निर्झर फूटकर बहने लगा है।

इधर बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से यह ऐक्य-बिम्ब क्षति-ग्रस्त होता प्रतीत होता है। पंजाब में गोविन्द-बिम्ब की रचना तो होती रही, किन्तु पंजाब एवं पंजाबेतर भूभाग के बीच इस बिम्ब का सहज सम्प्रेषण त्रुटित हो गया। अब गोविन्द-गाथा का आख्यान अधिकांशतः गुरुमुखी लिपि एवं पंजाबी भाषा तक ही सीमित होता चला गया, अनचाहे ही राष्ट्र-गुरु सम्प्रदाय-गुरु बनते चले गए। हम देश-गुरु को प्रदेश-गुरु समझने की गलती खाने लगे। अंग्रेजी राज्य के समय सम्प्रदायवाद के जिस विष-वृक्ष का वपन हुआ था, उसके फल हम आज तक चख रहे हैं; भाषाएँ लिपियों में क़ैद हुईं, राष्ट्र-नेता प्रदेशों में नज़र-बन्द कर दिए गए। पिछली अर्द्धशताब्दी में गोविन्द-गाथा का भरपूर आख्यान हुआ है, किन्तु उसमें वह सहज, निच्छल राष्ट्र-दृष्टि नहीं, महामहिम गुरु-धन को हमने अपनी आवश्यकता के अनुरूप छोटा समझने का लघु दम्भ किया है। किन्तु, गुरु गोविन्द सिंह की जीवन-कथा तो एक बाढ़ है, जिसे भाषाओं, लिपियों अथवा प्रदेशों की सीमाओं में बहुत देर तक बाँधा नहीं जा सकता। मुझे प्रसन्नता है कि भाई श्यामनारायणजी ने इस सत्य को पहचाना है और गुरु गोविन्द सिंह के ३००, वें जन्म-दिवस पर उन्हींके चरित्र के अनुरूप एक

महाप्रबन्ध प्रस्तुत किया है। इन्हीं दिनों गुरु गोविन्द सिंह की जन्मकथा से सम्बन्धित एक और हिन्दी प्रबन्ध-रचना की पाण्डुलिपि देखने का अवसर भी मुझे मिला है। मैं प्रसन्नभाव एवं कृतज्ञभाव से ऐसी रचनाओं का अभिनन्दन करता हूँ। सेनापति सन्तोख सिंह आदि कवियों द्वारा संचालित जिस काव्यपरम्परा की गति रुद्ध हो गई थी, श्यामनारायण जैसे राष्ट्रचेता कवि उसे फिर से गति देने का प्रयास कर रहे है, यह महत् संतोष का विषय है। इस प्रकार की काव्यकृतियों द्वारा ही भावात्मक एकता का स्वप्न साकार हो सकता है। ऐसे प्रबन्ध काव्यों के परिशीलन से हमें अपने इतिहास का ज्ञान ही नहीं, उसकी अनुभूति भी प्राप्त होती है। भारतीयता हमारे लिए बौद्धिक परिकल्पना ही नहीं भावात्मक सत्य बन जाती है। गुरु गोविन्द सिंह जैसे युगपुरुष हमारे जातीय अवचेतन में जितना गहरा उतरेंगे, हमारा देश-प्रेम उतना ही सहज एवं प्रामाणिक होगा। ऐसे प्रयास शतशः अभिनन्दनीय हैं। खेद है कि भाई श्यामनारायण अपनी रचना के प्रकाशित होने से पहले ही चल बसे। उनकी यह कृति उन्हें चिरस्मरणीय बनाएगी, ऐसा मेरा निश्चित विश्वास है। पंजाब-साहित्य का तुच्छ अध्येयता होने के नाते मैं उन्हें अणी राय, सेनापति, सुक्खा सिंह आदि समर्थ कवियों की पंक्ति में खड़ा देखता हूँ।

महत् विषय के कारण ही नहीं, स्वस्थ इतिहास-बिम्ब एवं कला-कौशल की दृष्टि से भी यह कृति उच्च स्थान की अधिकारी है। कवि ने न तो इतिहास का यथावत् प्रत्यंकन ही प्रस्तुत किया और न इस परंपरा के पूर्ववर्ती कवियों का मात्र पिष्ट-पेषण किया है। दोनों क्षेत्रों में उनकी मौलिकता निर्विवाद है। मैं पहले कह चुका हूँ, यह काव्य-कृति ऐतिहासिक तथ्यों का काल-क्रमानुसार परिगणन मात्र ही प्रस्तुत नहीं करती, मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के एक खण्ड का अनुभूति-चित्र उभारती है। काव्य-कृति की मार्मिकता ही उसकी सफलता की साक्षी है। कवि ने ऐतिहासिक दृश्य में से क्या ग्रहण किया है, यह बात हमारे लिए इतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी यह कि कवि ने क्या कुछ त्याग दिया है। भाई श्यामनारायण की कवि-दृष्टि ने विशाल ऐतिहासिक दृश्य से केवल उन्हीं तथ्यों का चयन किया है, जो मार्मिक काव्य-सत्य में परिणत हो सकने के योग्य थे। एक कुशल कवि के समान उनकी दृष्टि तथ्य पर न होकर भाव पर ही रही है। इस काव्य-कृति में अंकित गोविन्द-बिम्ब अपने ढग का इकहरा किन्तु पूर्ण बिम्ब है। उसमें न तो अखरनेवाली रिक्ति है, और न ऐसी अतिरिक्ति कि पाठक ऊब जाएँ। जीवन की वैविध्यपूर्ण भावभूमि को स्पर्श करने

का यत्न कवि ने नहीं किया, किन्तु उसके एक पूर्णांश का निरूपणअत्यन्त सुचारुता से किया गया है। घटनाओं का सघन एवं जटिल जाल कवि ने नहीं बिछाया है। जनसाधारण के लिए रचित इस विशुद्ध काव्य-कृति में न वैविध्य है न वैपुल्य, एकरस और लघु भावभूमि का पूर्ण चित्रण ही कवि का अभीष्ट है, इसमें उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। इस महाप्रयास में मुझे स्थान-स्थान पर विराट एवं उदात्त भाव की प्रतीति हुई है। कवि की भाषा के विषय में अहिन्दी-भाषी के लिए कुछ कहना अनधिकार चेष्टा होगी—वह स्पष्ट, अनाविल एवं सक्षम है, इतना कहने का अधिकार ही मैं ले रहा हूँ। प्रकृति-चित्रण के प्रति कवि का मोह कुछ अखरता है, पर वह भी अपने प्रतीकात्मक अर्थ-प्रेषण के कारण सार्थक प्रतीत होता है। प्रकृति का मानवीकरण तो अनेक कवियों का बहुप्रयुक्त शिल्प-साधन रहा है, मानवीय स्थिति का प्रकृतिकरण इस कवि का अपना स्तुत्य वैशिष्ट्य है। देशकाल का प्रमाणपुष्ट निरूपण इस काव्यकृति में नहीं हुआ है, किन्तु मानवीय परिप्रेक्ष्य की चिरसंगी शाश्वत प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों का प्राचुर्य यहां अनायास ही प्रस्तुत है। संक्षेप में, भाव, विचार और कल्पना सभी का परितोष इस रचना से होता है।

दिल्ली
४-१-६७

(हरि भजन सिंह)

काव्य-परिचय

गुरु गोविन्द सिंह का स्थान भारत के उन महापुरुषों की पंक्ति में है, जिन्होंने लोक-कल्याण के लिए लोकोत्तर साहस और दृढ़ विश्वास को सँजोकर विभीषिकाओं से भरे हुए कर्म-क्षेत्र में सोल्लास कदम बढ़ाया है और निराश एवं नेतृ-विहीन जाति को नेत्रों के साथ ही नेतृत्व प्रदान किया है। भारतवर्ष का इतिहास बताता है कि जब-जब इस धर्म-प्राण देश पर अधार्मिकता ने आक्रमण किया है तब-तब उसके प्रतिरोध और उच्छेद के लिए ईश्वरीय प्रेरणा से ऐसी विभूतियाँ आविर्भूत होती रही हैं। त्याग ही महापुरुषत्व का निकर्ष है। जो जितना ही महान् त्यागी होता है, वह उतना ही महान् पुरुष होता है। गुरु गोविन्द सिंह का त्याग अद्वितीय है। जिनके दो-दो पुत्र जीते-जी दीवार में चुन दिए गए, फिर भी वे अपने कर्त्तव्य से विमुख नहीं हुए। उनका सम्पूर्ण जीवन देश और जाति के लिए मनसा वाचा और कर्मणा उत्सृष्ट था। ऐसे युग-पुरुष का चरित-गान करने में लेखनी की सामर्थ्य की परीक्षा हुआ करती है। ऐसे नरवरों का चरित-गान कवि-प्रतिभा का शृंगार करता है।

श्री श्यामनारायण प्रसाद ने गुरु गोविन्द सिंह जैसे तपः पूत कर्मयोगी एवं महान् जन-नायक के चरित्र को आधार बनाकर तेईस सर्गों में इस प्रबन्ध की रचना की है। इसमें गुरुवर्य का समग्र जीवन संक्षेपतः आ गया है। शैशवावस्था में ही किस प्रकार उन्होंने अलौकिक प्रतिभा का प्रकाशन आरम्भ किया और वह धीरे-धीरे अनुक्रमिक रूप में विकसित होकर लोकातिशायी हो गई, बड़ी कुशलता के साथ कवि ने इसका प्रकाशन किया है। ऐसे काव्य की रचना में काव्य-नायक के प्रति जैसी श्रद्धा कवि में अपेक्षित होती है वैसी प्रसादजी में पूरी मात्रा में आद्यंत देखने को मिलती है। काव्य के बीच-बीच में प्रकृति-खंडों के बिंबग्राही चित्र आकर पाठक के मन में नई स्फूर्ति देते रहते हैं। प्रभात वर्णन में कवि कहता है—

ताल-ताल पर ताल दे रहा विमल प्रफुल्ल विलास,
सद्म-सद्म में पद्म-पद्म में चमका ईश-प्रकाश ।
हुआ धरा पर तन्मयता का रागारुण विस्तार,
त्रिभा-विभोर-भोर में गूंजा सत्य-बीन का तार ।

× × ×

सलिल-वक्ष पर लक्ष-लक्ष विहँसा दिनमणि साकार
प्रभा-गर्भ में मृदुल नवल कलरव का पारापार ।

—सर्ग १३

युगानुरूप भावों की व्याख्या भी काव्य में बराबर मिलती है। काव्य की भाषा संस्कृतनिष्ठ होने के साथ ही प्रवाहमयी है। उसमें बीच-बीच में लाक्षणिक प्रयोग आकर भावों को विशेष प्रभविष्णु बना जाते हैं। सर्ग-सर्ग में छन्दों की विविधता काव्य की अनुरंजकता को और प्रवर्धित कर देती है।

श्यामनारायणजी का यह अंतिम काव्य है। इसके पहले झांसी की रानी और पन्ना धाय—दो और प्रबंध-काव्य ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। पूर्ववर्ती प्रबंधों से इस महाकाव्य में कवि काफी आगे बढ़ा है, इसमें सन्देह नहीं। गुरुजी पर अब तक हिन्दी में कोई ऐसा प्रबंध हमारे देखने में नहीं आया। अतः इसे एक बड़े अभाव की पूर्ति समझना चाहिए। मुझे विश्वास है कि इस महाकाव्य को पाठकों का आदर और प्रेम प्राप्त होगा।

नागरी प्रचारिणी सभा,
वाराणसी

लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी'
३-१२-६६

पुस्तक तनिक भी क्षतिग्रस्त कर लाने अथवा खो देने पर उसका वर्तमान अनुमानित मूल्य मय जिल्द एवं रजि० डाक व्यय जमा देना होगा। मंत्री का निर्णय निर्विवाद रूप से मान्य होगा।

मंगलाचरण

शीश की जटा में लसी लोक की छटा है नित,
चूम चूम गंगाजी की धारा लहराती है।
भव में विभव की निसेनी को बनाती हुई,
पुण्यमय प्रताप का प्रकाश दिखलाती है॥

शोभित है भाल पै त्रिकाल का विलास और,
मंगल की मूरति अमन्द मुसकाती है।
उसमें छिपी हुई त्रिनेत्र की प्रचण्ड अग्नि,
होते ही नयन लाल प्रलय मचाती है॥

तन पै विभूति की विभूति है विभूतिमयी,
जल, थल, अम्बर को अम्बर पिन्हाती है।
भूपति को रंक और रंक को नरेश वह,
समय के पलड़े पै तौल के बनाती है॥

रुचिर सलोने सुघर शुभ्र कन्धरा से,
वक्ष पर मुण्डों की सुमाला लहराती है।
सत्यमय सुपन्थ पर स्वधर्म का प्रकाश ले,
बढ़े चलो बढ़े चलो की बात बतलाती है॥

अंग अंग कुण्डली भुजंग की विराज रही,
ताण्डव पै स्वर्ग ही विमुग्ध झूम जाता है।
डमरू के नाद से फणीश-शीश झूम जाता,
दिग्गज के दाँत से क्षितिज छूट जाता है॥

प्रलय के पलने पै वसुधा भी झूम जाती,
देख देख इसको महेश मुसकाते हैं।
भोले सलोने वृषम पर बैठकर,
गौरी को गौर से प्रपंच दिखलाते हैं॥

सुर और असुर बीच गरल को पान किये,
जग-हित अहित को आप में समाये हैं।
रिद्धि और सिद्धि के बनानेवाले भूतनाथ,
मस्त हो विरागमय धुनी ही रमाये हैं॥

ऐसे अड़भंगी नित अलख तरंगी प्रभु,
धरम की ध्वजा निज अंक में लगाया करे।
अगम अथाह के प्रपंच और माया बीच
छन्द में प्रवाह दे सुपन्थ बतलाया करें॥

मानस के मन्दिर में भावों की सुमाला से,
मण्डित हो बैल पै डमरू बजाया करें।
कविता को सविता सा सत्मय प्रकाश दे,
अरथ के आसन पै अलख जगाया करें।

●

पहला सर्ग

नृपति भगीरथ के तप का,
नव तेज पुंज लहराया।
जग-चेतन जग पड़े नींद से,
धर्म केतु फहराया॥

बढ़ी सुरभि सुषमा पर बैठ,
मनोमालिन्य मिटाने।
जगी धरा पर नई ज्योति,
प्रज्ञा का दीप जलाने॥

जगे हवन के कुण्ड झुण्ड,
के झुण्ड वह्नि-ज्वाला में।
हुए भस्म सब अनाचार,
प्रज्वलित सती ज्वाला में॥

जले अर्चना के दीपक,
जो अब तक मन्द पड़े थे।
खुले द्वार गुरु द्वारे के,
जो अब तक बन्द पड़े थे॥

टूट गये जबान के ताले,
जागी नई रवानी।
जल, थल और गगन में गूँजी,
प्रभु की सुयश-कहानी॥

गुनने लगा अमन्द पवन,
स्वर्णाक्षर में श्रुति वाणी।
विहस उठी दल दल के ऊपर,
माँ पूज्या कल्याणी॥

चमक उठी पूजा की थाली,
देव-चरण के आगे।
मुक्त हो गईं दसों दिशा,
भय खेद हृदय से भागे ॥

आज नया उत्साह भरा है.
धरणी और गगन में।
नये पर्व की तैयारी है,
भारत के आँगन में ॥

जिस पाटलीपुत्र की रज में,
पारस छिपा हुआ है।
जिसके लिये तरसते सुरगण,
वह रस भरा हुआ है ॥

जिसके कण में चन्द्रगुप्त का,
पौरुष गरज रहा है।
झुके न शीश कभी संकट में,
प्रतिपल बरज रहा है ॥

जो कहता है तुम अधर्म का,
नव प्रासाद ढहा दो।
अरुण पताका ले गिरिवर के,
मस्तक पर फहरा दो ॥

लिखते चलो स्वधर्म शिला पर,
स्वर्णाक्षर में बानी।
शीश चढ़ाकर तुम रक्खो,
अपने स्वदेश का पानी ॥

निर्ममता के पर्वत को,
फूकों से सहज उड़ा दो।
जाति धर्म के गौरव को,
सौ सौ रवि सम चमका दो ॥

सिन्धु-सन्तरी से कह दो,
निज सुवर्म उठा ले।
उपल समान सजल तन करके,
खोला चर्म चढ़ा ले ॥

तुम अगस्त्य सा गण्डुलि पर,
रख समर सिन्धु पी जाओ।
भेदी बनकर अरि-भूधर को,
टूक टूक बिखरा दो ॥

तुम अनीति का उर विदीर्ण कर,
कर उदरस्थ पचा लो।
पंचाली सी पड़ी विपन्ना,
माँ को अभय बचा लो ॥

गूँज रही जिसके प्रांगण में,
नृप अशोक की वाणी।
शत शत वर्षों से बतलाती,
शिवमय पथ कल्याणी ॥

जिसको छत्र-छाँह में पन्थी,
तृषित हृदय जुड़वाते।
सत्य-अहिंसा के प्रतीक को,
नभ में अभय उड़ाते ॥

गहन विपिन में जिसने,
पत्थर का उर सरस बनाया।
उस पर सत्य-अहिंसा का,
पावन-पद-चिन्ह लिखाया ॥

जिसको आज भ्रमित मानव,
छाती से लगा रहा है।
चूम चूम जिसके अंकन को,
सिर से लगा रहा है ॥

उसी वीरभोग्या पटना से,
निकली गुरु की टोली।
'वाह गुरु की फते' कहो की,
गूँज रही थी बोली॥

क्या केहरि-किशोर निकले,
माँदों से हैं मतवाले।
या निकले हैं प्रलय जलद,
बढ़ प्रलय मचाने वाले॥

आगे आगे शिशु गोविन्द थे,
लघु तलवार सँभाले।
पीछे पीछे नगर-लाल थे,
ले ले अपने भाले॥

रुक रुक कर वे शैशव की,
रण-कला दिखाते जाते।
बदल बदल कर अभय पैंतरे,
पवन सदृश लहराते॥

क्या यह लाल सुभद्रा का,
भूतल पर फिर उतरा है?
या यह काल अनीति-अनघ का,
कलियुग में निखरा है॥

नहीं, नहीं यह धर्म धरा का,
रक्षक आज चला है।
माया, मोह, विमोह-द्रोह का,
भक्षक आज चला है॥

मन्थर गति में बढ़ी जा रही,
थी शिशु-अभय सवारी।
रह रह करके गरल उगलती थी,
लघु गरम दुधारी॥

नभ था पुलकित देख देख,
लड़कों की यह रण-लीला।
चूम चूम पद पुलकित था,
सुरसरि का हृदय रँगीला॥

किसकी हस्ती है जो बढ़ कर,
बाल सिंह को टोके।
किसकी हस्ती है जो वह,
यह गरम दुधारी रोके॥

निश्चय ही वह महामृत्यु के,
आँचल पर सोवेगा।
किस्मत को फूटी कौड़ी ले,
जीवन भर रोवेगा॥

भृकुटि वक्र होने पर रवि का,
गोला टूट गिरेगा।
ग्रह उपग्रह कम्पायमान हो,
भू पर छूट गिरेगा॥

थर थर थर थरथरा उठेगा,
सिन्धुराज का आसन।
चलदल सम कम्पायमान,
हो जावेगा कमलासन॥

मचा अचानक कोलाहल,
कँप उठे व्योम-भूचारी।
चली आ रही थी नवाब की,
शोभित दिव्य सवारी॥

आगे आगे राजदण्ड की,
माया खेल रही थी।
बाल-वृद्ध; नर-नारी पर,
वह गरल उडेल रही थी॥

आगे आगे राज - सिपाही,
थे पथ - भीड़ हटाते ।
आते हैं नवाब झुक जाओ,
जन जन को बतलाते ।।

अल्ला हो अकबर की जय में,
सब थे झुकते जाते ।
सुखी रहें परवरदिगार,
भय से थे सभी मनाते ।।

अनाचार से पवन प्रकम्पित,
पथ पर रुक जाता था ।
अम्बर भी उस दम नवाब के,
सम्मुख झुक जाता था ।।

उन विधर्मियों से हो कम्पित,
खग कुल मौन पड़ा था ।
हाथ जोड़ कर महाकाल भी,
झुक कर मौन खड़ा था ।।

तन से तोड़ जनेऊ हिन्दू,
शिखा छिपाते जाते ।
माला डार गले का चन्दन-
टीका त्वरित मिटाते ।।

देख न लें नवाब साहब,
भय था जन जन के मन में ।
जमी नवाबी कब डूबेगी,
भजते थे मन-मन में ।।

हर-हर महादेव की ध्वनि पर,
लगा हुआ था ताला ।
रामनाम के बिरवा पर अब,
पड़ा हुआ था पाला ।।

गुरुद्वारे की प्रभा पाप का,
लोहा मान चुकी थी।
द्वार द्वार पर मकड़ी कब का,
जाला तान चुकी थी॥

कोने-कोने में उलूक का,
था अब दुखद बसेरा।
जाति-धर्म पर अब असमय का,
पड़ा हुआ था फेरा॥

जहाँ शंख-घड़ियाल वहाँ अब,
झिल्ली बोल रही थी।
जहाँ अर्चना-दीप वहाँ अब,
रजनी खेल रही थी॥

'वाह गुरू की फते' जहाँ पर,
नभ को कँपा रहा था।
हर हर महादेव की जय को,
सागर सुना रहा था॥

पवन-प्रताड़ित शुष्क वहाँ अब,
पत्ते पड़े हुए थे।
द्वार-द्वार पर अक्षत के,
दाने भी ऊग बढ़े थे॥

चली और आगे मनमानी,
करती हुई सवारी।
भय से झुकती जाती थी,
सारी जनता बेचारी॥

साहस नहीं किसी में था जो,
डटकर शीश उठावें।
निर्ममता की सरिता में जो,
शिला सदृश अड़ जावे॥

बाल-सिंह रुक खड़ा हो गया,
सुन नवाब-जय-बोली।
भाला तान रुक गई लड़कों
की मतवाली टोली॥

इतने में आँखों के सम्मुख;
आई दिव्य सवारी।
आगे-आगे रक्षक थे ले
असि-भाले भयकारी॥

बोला एक सिपाही गर्वित,
हे लड़को! रुक जाओ।
और सवारी के सम्मुख,
भाला रखकर झुक जाओ॥

इतना सुनकर गरज उठा वह,
केहरि-सुत मतवाला।
और तानकर खड़ा हो गया,
अपना खूनी भाला॥

कहते हो तुम रुक जाओ,
आते नवाब साहब हैं।
कहते हो तुम झुक जाओ,
आते नवाब साहब हैं॥

कहता हूँ यह शीश कभी भी,
भय से नहीं झुकेगा।
मतवाला यह वीर बाँकुरा,
भय से नहीं रुकेगा॥

चाहे क्यों न अनन्त सवारी,
के सम्मुख झुक जावे।
रवि ही क्यों न उतर अवनी के
आँचल पर सो जावे॥

चाहे सूर्य भले ही भय से,
पश्चिम में उग जावे।
या अम्बर का तारा आकर,
पथ-सम्मुख बिछ जावे ॥

लेकिन यह गर्विली टोली,
बढ़ती सदा रहेगी।
अत्याचारी की छाती पर,
चढ़ती सदा रहेगी ॥

इसकी है परवाह नहीं,
चिर निद्रा में सो जावे।
या अधर्म की असि के सम्मुख,
टूक-टूक हो जावे ॥

वाग्बाण से आहत होकर,
वह रक्षक फुफकारा।
बालक रंचक डरा नहीं,
तलवार तान ललकारा ॥

"मुँह क्या देख रहे हो मेरा,
कहना हो कह डालो।
शीश नहीं झुक सकता है,
जो करना हो कर डालो ॥

जनमा है जो इस अवनी पर,
उसकी मौत खड़ी है।
करना हो जो करलो मेरी,
सेना डटी खड़ी है ॥

हमने जीना भी सीखा है,
मरना भी सीखा है।
जाति-धर्म के लिये अँगारे
पर चलना सीखा है ॥

डरवाना उसको जो तेरी,
घुड़की से डर जावे।
लाल आँख उसको दिखलाना,
जो पथ से हट जावे॥

यहाँ मौत की छाती पर भी
हँस हँसकर चढ़ना है।
बैठ हुताशन के आसन पर,
ग्रन्थ सदा पढ़ना है॥"

खूनी आँखें फिर तरेरता,
बोला वीर सिपाही।
बालक-हत्या करने की,
हमको है अभी मनाही॥

नहीं तुम्हारा शीश अभी,
इस अवनी पर सो जाता।
और वीर भाव सब क्षण में,
मिट्टी में खो जाता॥

बालक नहीं तुम्हारे चाचा,
का भी मैं चाचा हूँ।
और तुम्हारी जमी नवाबी,
का भी मैं चाचा हूं॥

कहता हूँ जो करना हो वह;
आज यहाँ पर कर लो।
यदि ताकत रखते हो तो,
सम्मुख डटकर अब शर लो॥

इतने में हँस पड़ी बालकों
की टोली मतवाली।
फैली तक्षक के मुख पर फिर,
शर्ममयी नव लाली॥

सिर लटकाये चला गया वह,
लखते दायें—बायें।
शिशु-गोविन्द लिये लड़कों को,
सुरसरि के तट आये॥

शैशव में रण-कला जगी,
लड़के हथियार सँभाले।
क्रीड़ा में रण-व्यूह बना,
चमके हथियार निराले॥

लगे पैंतरे बदल-बदल,
शैशव-चापल्य दिखाने।
महासमर में महारथी सम,
रण वे लगे दिखाने॥

कभी अस्त्र रखकर अवनी पर,
मल्ल-युद्ध वे करते।
कभी पैंतरे बदल-बदल,
भालों से जमकर लड़ते॥

कभी जूझती थी कटार,
खन-खन-खन-खन होता था।
देवपगा की नीरवता को,
पल-पल पर खोता था॥

करते थे हुंकार महाभट जैसे;
रण करता हो।
ढाल नचाकर वार रोककर,
जैसे रण करता हो॥

भावी रण की अमिट निशानी,
मुख पर लहराती थी।
विगत विभव की सुषमा तन पर,
फिर से मुसकाती थी॥

पावन सुरसरि-ऊर्मि-अधर से,
प्रभु को मना रही थी।
निज शीतल उच्छ्वास-पवन से,
श्रम को मिटा रही थी॥

करती थी वह मधुर-कल्पना,
ये शिशु लाज बचावें।
प्रखर बात बन अघ के घन को,
जग से मार भगावें॥

लहरा उठे जननि का फिर से,
भोला - भाला - आँचल।
चढ़े ग्रन्थ के पद पर फिर से,
मंगलमय शीतल जल॥

गूँज उठे घर घर में फिर से,
गुरू-ग्रन्थ की बानी।
आर्य देश की कुल-ललनायें,
सुनें स्वदेश कहानी॥

गुरुद्वारे के द्वार द्वार पर,
गूँजे गुरु की बानी।
कड़ा-कृपाण - केश - कंघा की,
रमने लगे कहानी॥

निर्भय विचरे सिक्ख शीश पर,
पूर्वज - पगड़ी बाँधे।
केसरिया बाना फहरावे,
अभय शरासन साधे॥

बाल - केसरी के मुख पर था,
श्रम - सीकर लहराता।
रज-कण से आच्छादित हो था,
मन्द मन्द मुसकाता॥

मानो रबि झीने बादल में,
छिप दमदमा रहा हो।
श्वेत राख में मनो अनल,
छिपकर चमचमा रहा हो॥

दिनमणि दिन की समर-भूमि से,
थककर लौट चले थे।
जीवन की संग्राम-भूमि से,
खग भी लौट चले थे॥

पवन-पंख हो गया शिथिल था,
मन्द मन्द हिलता था।
सोने का संसार अमंगलमय,
सर में ढलता था॥

•

दूसरा सर्ग

जगी प्रभात पंथ पर ललामता दिनेश की ।
हँसी प्रबुद्ध भावना प्रकाश पर स्वदेश की ।।
अनन्त की प्रभा चली दिगन्त-अंक खेलती ।
प्रशस्त डाल डाल पात पात मधु उड़ेलती ।।

चले समीर कामिनी-समा-समा खिला खिला ।
लसी छटा सुछत्र छत्र कंज का हिला हिला ।।
हुई प्रबुद्ध मेदिनी छटामयी मनोहरा ।
हिला विपिन प्रमत्त शीश पुष्पमय हरा हरा ।।

जगी तपोरता लता प्रलम्ब तरु सुबाहु पर ।
लसी तरंग-मालिका सुनीर के प्रवाह पर ।।
बढ़े व्रती उछाह में प्रभो प्रबुद्ध धाम में ।
नवीन चेतना जगी सुरम्य ग्राम ग्राम में ।।

उड़े विहंग पंख से मयूख-जाल भेदते ।
खिले प्रसून विघ्न का अगम पहाड़ छेदते ।।
भगी निगूढ़ खिन्नता प्रकाश को विलोकती ।
हँसी वनस्थली अनन्त का हृदय विमोहती ।।

दसों दिशा उछाह के प्रवाह में नहा रही ।
बढ़ो प्रशस्त-पंथ पर, सुमंत्र थी सुना रही ।।
हरीतिमा बनादि की अनन्त चुम्बनोत्सुका ।
पिला रही सुधा तृणादि को जगत् विभूषिका ।।

धरा मगन, गगन मगन, मगन प्रभात गात है ।
स्वदेश-गीत गा रहा प्रसन्न पात-पात है ।।
सुना रही स्वधर्म-गीत कोकिला रसाल पर ।
सिहर रहा गिरीन्द्र से समीर-ताल-ताल पर ।।

पता नहीं उछाह में क्यों पाटली मलीन है।
मनो सुरत्न खो गया हुआ नितान्त दीन है॥
कलामयी उड़ान में विहंग हैं न बोलते।
प्रसून-कुञ्ज बीच में मिलिन्द हैं न डोलते॥

प्रसून के विकास में भी पूर्व सा न हास है।
खगादि भी न बोलते, न नाचता विलास है॥
विरह-व्यथा समाकुलता देवापगा है हाँफती।
गिरींद्र-अंक-लाडली विरह-पहाड़ नापती॥

मातृ भूमि का समस्त गात स्वस्थ मस्त है।
परन्तु पक्ष-पाटली मलीन अस्त-व्यस्त है॥
व्यथा-कथा प्रकाश के हिलोर पर सुना रही।
कि पाटली के नेत्र की हैं ज्योति आज जा रही॥

मातृ-अंक खेलते गोविन्द सिंह चल पड़े।
हिमाद्रि खेलते हुए उषा-किशोर चल पड़े॥
बढ़ी समीर-वाहिनी सुपत्र की ध्वजा उड़ा।
स्ववक्ष तान गर्त से स्वदेश हो गया खड़ा॥

ऋद्धियाँ स्वमातृ-भूमि अंक में विहँस उठीं।
सिद्धियाँ स्वमातृ-अंग अंग पर दमक उठीं॥
स्वधर्म की ध्वजा लगी नगेंद्र-शीश डोलने।
स्वतंत्रता सगर्व से लगी सुग्रन्थ खोलने॥

तनी कटार किसलयी वनस्थली के हाथ में।
तना तमारि-तीर धीर तेज-पुंज साथ में॥
अधीर हो उठा निविड़ शिविर विलोप हो गया।
समीर की प्रताड़ना से कोप लोप हो गया॥

मातृ पुत्र साथ ले प्रयाण की निमेष में।
प्रभात-पुत्र हँस पड़ा सहस्र वीर भेष में॥
चली स्वधर्म छन्द ग्रन्थ मुक्त खोलती हुई।
स्वपुत्र कर्ण में स्वधर्म मधु उड़ेलती हुई॥

अनेक वीर प्राण के प्रसून को उड़ा चले।
अनेक धीर धर्म की ध्वजा उड़ा उड़ा चले॥
परन्तु मातृ-भूमि की कटी न लौह-शृंखला।
बँधी हुई अनीति से स्वधर्म की हैं मेखला॥

कराल-काल-ज्वाल से स्वजाति भस्म हो रही।
सुधामयी धरा अनर्थ बाँह बीच रो रही॥
अनन्त से दिगन्त तक अधर्म का निवास है।
कहीं नहीं दिखा रहा स्वधर्म का प्रकाश है॥

कहीं अशनि-निपात गात देव का कँपा रहा।
कहीं अनर्थ स्वार्थ में परार्थ को नचा रहा॥
बची कहीं न भूमि है जो रामनाम ले सके।
बचे नहीं सपूत हैं जो अर्घ्य-दान दे सके॥

कहीं अमर्ष कर रहा सहर्ष अट्टहास है।
कहीं तिमिर पचा रहा स्वधर्म का प्रकाश है॥
अहः कहीं विलख रहीं स्वदेश की दुलारियाँ।
छिपी कहाँ कहो प्रभो! सतीत्व की कटारियाँ॥

यज्ञ की सुरभि न आज व्योम-बीच खेलती।
भक्ति की लहर न आज कण्ठ-कण्ठ खेलती॥
दबी प्रशस्त अर्चना अनीति बीच जा रही।
विवर्ण मुँह लिये पिशाचिनी प्रमत्त आ रही॥

आज धर्म की मधुर सुकल्पना विलोप है।
या कहूँ इसे कि आज कर्म का ही कोप है॥
बिलख रहीं ब्रजांगना न कृष्ण आज बोलते।
मुमूर्षु है पड़ा अवध न राम आँख खोलते॥

भला किसे कहूँ कि लाल! लाज देश की बचा।
भला किसे कहूँ शिखा स्वजाति की अभय बचा॥
नहीं कहीं दिखा रहा स्वधर्म कर्णधार है।
अनीति का अभेद्य पारावार पारावार है॥

लिखा लहू-निशान पर स्वजाति का विहान है।
दिखा रहा कटार धार पर स्वदेश मान है॥
सुना रहा सुग्रन्थ सिन्धु हर्ष ताल ताल पर।
जगा रहा जयी. उठो प्रसून डाल डाल पर॥

उठो किशोर भोर है गली-गली जगा रहा।
तमारि स्वर्ण का अनीति पर यहाँ चला रहा॥
भगी अमा हँसी समा सुचेतना चमक उठी।
प्रसन्न पात पात पर सुकल्पना दमक उठी॥

बढ़ो व्रती ! स्ववाहु पर अभय अनन्त रोक लो।
चलो अमर्ष पर सहर्ष विहस दिगन्त छेंक लो॥
बढ़े न काल एक पग पकड़ भुजा मरोड़ दो।
चढ़े न तीर-सिंजिनी अधर्म का तू तोड़ दो॥

भला वह वीर कौन है जो बैल सा बँधा रहे।
सहस्र गालियाँ सुने हृदय सतत बिंधा रहे॥
उठे न सिर भले हजार मार पीठ पर पड़े।
सहा करे अनर्थ पेट के लिए खड़े खड़े॥

लाल ! आज देश की भुजा अधर्म काटता।
पड़ा अशक्त सिंह है कुरंग मूछ चाटता॥
कहाँ है यज्ञ का अनल तृणालि मस्त झूमता।
सगर्व वक्ष तान है अनर्थ व्योम चूमता॥

तो लाल आज देश-मान शीश-दान माँगता।
दूर से स्वदेश का विहान मौन झाँकता॥
भला यह मौन सिन्धु है अमर्ष न पचा सका।
खड़ा नगेन्द्र रह गया स्वधर्म न बचा सका॥

तो लाल ! आज देश है गोविन्द मुँह निहारता।
खड़ा प्रभात पात-पात आरती उतारता॥
मुदित कली सुपन्थ पर सजल पलक बिछा रही।
बढ़ो बढ़ो हे भारती ! स्वतन्त्रता बुला रही॥

उदार चेतना पड़ी नृशंस क्रूर हाथ में।
महान कल्पना कलप रही स्वदेश-साथ में ॥
भला यह कौन पाप था जो पूर्व का पड़ा रहा।
जला नहीं, मरा नहीं, सड़ा नहीं, खड़ा रहा ॥

जो आज धर्म की ध्वजा अधर्म को थमा रहा।
पकड़ शिखा स्वजाति की भुवन-भुवन घुमा रहा ॥
तो लाल ! एक क्षण विराम विश्व में हराम है।
उड़े ध्वजा स्वधर्म की यही अभीष्ट काम है ॥

न एक पग रुको कहीं अनन्त रोकने चले।
न एक पग झुको कहीं दिगन्त झोंकने चले ॥
जो सामने हो मौत तो करस्थ कर अभय बढ़ो।
स्वधर्म की ध्वजा लिए अँगार पर चढ़े चलो ॥

सहस्र सिन्धु ले तरंग-तीर मारने चले।
अजस्र बाहु से तमारि सिर उतारने चले ॥
परन्तु एक इञ्च भी हटो न तुम सुपन्थ से।
समस्त विश्व सत्य का प्रकाश ले सुग्रन्थ से ॥

बढ़ो सुपन्थ पर भले समस्त अंग छट चले।
पढ़ो सुग्रन्थ अन्त तक भले स्वशीश कट चले ॥
गिरे जो शीश भूमि पर तो राम-राम ही कहे।
पड़े जो वक्ष भूमि पर तो गर्व से तना रहे ॥

लिखा कटार-धार पर सुग्रन्थ-मंत्र ही रहे।
लिखा लहू-निशान पर सुग्रन्थ मंत्र ही रहे ॥
सशक्त जीभ अन्त तक सुग्रन्थ मंत्र ही पढ़े।
लड़े, उठे, गिरे, मरे परन्तु सत्य पर बढ़े ॥

इसी प्रकार पातकी ध्वजा-पटल-विलास में।
अपूर्व-नील-केतु के प्रतापमय प्रकाश में ॥
प्रबुद्ध मातु-पालकी चली समोद खेलती।
अशोक-कोक-लोक के सुहास में कुहेलती ॥

पतंग-वंश-पूजिता अनिन्द्य सौख्य-वल्लरी ।
हिला अनंग-कीर्ति-दुर्ग की ध्वजा हरी-हरी ।।
उछाहमय हुलासमय सुपन्थ को निहारती ।
मरन्द-विन्दु-वासिता वनस्थली सुधारती ।।

उतर मगन गगन फटिक समान नीर फर्श पर ।
समोद नाचता उछाह-वीचि के स्पर्श पर ।।
असंख्य कंज नेत्र से गोविन्द-पंथ देखता ।
प्रमत्त-अलि-पटल समोद गोद में कुहेलता ।।

प्रवुद्ध कोकिला रमी विशुद्ध ग्रन्थ-गान में ।
तना तमारि-स्वर्ण केतु बुद्ध आसमान में ।।
हुई मगन दिशा-वधू कि मारतण्ड पा गई ।
मनो सुशक्ति पौरुषेय-अंक में समा गई ।।

हुई गुरुत्व-धाम में सुपालकी समागता ।
अनेक सौख्य वर्ण में सुधाम था विराजता ।।
वढ़ा प्रशान्त खेलने गोविन्द कीर्ति-गान में ।
तना स्वजाति धर्म का प्रतान आसमान में ।।

•

तीसरा सर्ग

स्वर्ण-खचित सिंहासन पर,
शोभित थी दिव्य-सवारी।
पार्श्व-भूमि में पड़ी हुई थी,
लोहित गरम दुधारी॥

जटा-जूट था हेम कूट सा,
कंधा राज रहा था।
मनो पिनाकी से गंगा की,
धारा माँग रहा था॥

तेजोमय आनन था लोहित,
पाप भस्म करने को।
मनो जगा प्राची किशोर हैं,
घोर निविड़ हरने को॥

भय रेखा थी पड़ी भाल पर,
सत्य-प्रकाश चमकता।
मणियों का था हार गले में,
शिवमय सदा दमकता॥

मानस में थी क्रोध-अग्नि,
आँखें अंगार बनी थीं।
गुरु-द्वारे की आह पलक पर,
छायी हुई घनी थी॥

म्यान बीच तलवार चमककर,
बिजली सी रह जाती।
धर्म ग्रन्थ की बानी कानों में,
थी कुछ कह जाती॥

सम्मुख सिक्खों की जमात,
गुरु का मुख देख रही थी।
निष्प्रभ सी चिन्ता-ग्रसिता,
गुरु का रुख देख रही थी॥

उडुगण सम सहस्र सिक्खों का,
आनन दमक रहा था।
तिसके बीच गुरू का आनन,
शशि सम चमक रहा था॥

आसनगत गुरु तेग बहादुर,
मन में सोच रहे थे।
पहने कवच धर्म का तन पर,
अरि शर रोक रहे थे॥

कब का आसन मारे हिमनग,
निश्चल मौन पड़ा है।
कर जोड़े अनीति के सम्मुख,
चारों धाम खड़ा है॥

बहता है नित गरम अश्रु,
पाषाण हृदय से गल गल।
रुक जाता है व्यथा समीरण,
पात पात रे चल चल॥

क्या तेरी हुंकार अजय,
पत्थर में छिपी रहेगी?
धर्म धुरी यह वीर मही ही,
निशि दिन कष्ट सहेगी॥

तू ने महाप्रलय में सिर पर,
रखकर सृष्टि बचायी।
जल प्लावन मिट चला धर्म पर,
आँच न आने पायी॥

हँसता रहा स्वधर्म तुम्हारे,
राजमुकुट पर दानो।
अहह ! आज है सूख रहा,
अपने स्वदेश का पानी ॥

क्या तुम आज अगस्त्य धीर को,
फिर से जगा सकोगे।
इस विडम्बना के प्लावन से,
माँ को बचा सकोगे ॥

कहो पुनः कैलास जगे,
शिव शृङ्गी-नाद सुनावें।
इस अनीति के अगम सिन्धु को,
सुधामयी कर जावें ॥

छोड़ जटा से पुनः देवधुनि,
धर्म ध्वजा फहरावें।
एक बार डमरू के रव में,
ताण्डव नृत्य दिखावें ॥

व्यथा-भार से दबा धर्म का,
शीश पुनः उठ जावे।
यज्ञ-सुरभि कोने-कोने से,
व्योमावृत हो जावे ॥

ऋद्धि हँसे पत्ते-पत्ते पर,
सिद्धि योगिनी घूमे।
धरणी से उठ यज्ञ-कुण्ड की,
अग्नि व्योम को चूमे ॥

गुरु द्वारे के द्वार द्वार पर,
वन्दनवार सुहावे।
निकले गुरु की अभय सवारी,
व्योम सुमन बरसावे ॥

ग्राम-ग्राम को धाम-धाम को,
पुनः वसन्त हँसावे ।
मलय समीरण घूम-घूमकर,
सबको ग्रन्थ पढ़ावे ।।

अमर शहीदों को समाधि की,
अस्थि वज्र बन जावे ।
चढ़कर म्लेच्छ शीशपर निर्भय,
पावन ग्रन्थ सुनावे ।।

यह कैसा एलान की मजहब,
एक जमी पर होगा ।
मलय और कुरान पढ़े,
इससे ही मंगल होगा ।।

राज मोह यह बोल रहा है;
मजहब की आवाज नहीं ।
हिन्दू-कुल को लवा न समझे,
अपने को वह बाज नहीं ।।

राज-धर्म है कठिन-धर्म,
इस पर चलना आसान नहीं ।
मत्स्य न्याय पर चलने से,
टिक सकता है व्यवधान नहीं ।।

आत्म - तुष्टि के लिए जिये,
यह राजधर्म कर्तव्य नहीं ।
ऐसा क्रूर नृशंस नृपति,
हो सकता है क्षन्तव्य नहीं ।।

तो अब कर पर कर धरने से,
धरम न बच सकता है ।
बिना किये पुरुषार्थ मनुज,
इतिहास न रच सकता है ।।

तो अब प्राण-मोह को त्यागो,
कफन बाँध लो सिर पर।
और उड़ा दो ध्वजा धर्म की,
नभ-मस्तक पर फर फर ॥

जब तक सतजल और झेलम की,
नदियों में है पानी।
तब तक जाति धर्म पर करते,
चलो बिहँस कुर्बानी ॥

धर्म - विहीन धरा पर जीने
से अच्छा मर जाना।
धर्म-यज्ञ की विहँस विहँस,
साकल्य-सुरभि बन जाना ॥

जब तिनका भी पद प्रहार से,
स्वाभिमान दिखलाता।
हन्ता की आँखों में पड़कर,
निज पुरुषार्थ दिखाता ॥

तब हम मानव होकर भी,
अपना अपमान सहेंगे।
माँ-बहनों का आर्तनाद सुन,
चुप हो कुछ न करेंगे ॥

हलवाले का बैल नहीं नर,
गाली-मार सहेगा।
अत्याचारों की ज्वाला में,
जलता सदा रहेगा ॥

हम काबुल की है न कबूतर,
सहज शत्रु खा जावे।
ले न डकार जरा भी पापी,
मन ही मन मुसकावे ॥

मेरे पूर्वज गण्डुलि पर रख,
अगम सिन्धु पी डाले।
जाति-धर्म के लिये मुदित,
निज अस्थि-दान दे डाले॥

सत्य-धर्म के लिये डोम के,
हाथ सहर्ष बिके थे।
जिसके पद पर स्वर्ग-लोग से,
आकर देव झुके थे॥

तो ले बैठ सुमिरनी से,
यह धर्म न बच सकता है।
केवल मन के मनसूबे से,
कर्म न फल सकता है॥

चौथा सर्ग

काल के मुख ज्वाल सा पहुँचा त्वरित एलान,
काँपने थर-थर लगा सुन गगन का भी प्राण।
घिर रही थी कालिमा विकसित क्षितिज हो म्लान,
देखता था शुचि अजिर में धेनु का बलिदान ॥

मौन थे खग कोटरों में अलस पंख पसार,
राज-मद की कुटिल माया का दुखद व्यापार।
खींचता था वीर भू का द्रौपदी सा वस्त्र,
धर्म जलनिधि से हिमालय तक पड़ा था त्रस्त ॥

हिल न सकती थी शिखा थी वेदना में बन्द,
देवघर के ज्वलित दीपक हो चले थे मन्द।
हँस रही थी पोथियों की होलिका चहुँ ओर,
क्रूरता के सिन्धु का था लापता अब छोर ॥

अर्द्ध-दग्धा जननि कहती हो कहाँ हे राम,
अर्द्ध-वस्त्रा नारि कहती हो कहाँ हे श्याम।
कट रहे माँ अंक में भावी धरा के लाल,
क्या न भाते हैं तुम्हें अब व्रज-धरा के बाल ॥

सूखते थे जिस मनुज के वस्त्र नभ की डाल,
बन्द मुट्ठी में युगों तक काँपता था काल।
नमित जिस पद पर जलधि धर मनुज का नवमेष,
माँगता था प्राण भिक्षा काँपता सविशेष ॥

वह मनुज है आज कैसा यह समय का फेर,
काँपता थर-थर खड़ा औ देखता अन्धेर।
क्या समय की राख में सोया ज्वलित ऋषि शाप,
जो धरा पर पुण्य रोता, हँस रहा है पाप ॥

जो बनाये थे धरा को सत्य से उपधान,
गण्डुली पर रख जलधि को कर गये थे पान।
वह समय का पंख कितना ऐन्द्रजालिक फूला,
क्षण बनाता धूल क्षण में व्योम का मस्तूल ॥

बन्द कब से हैं हमारे देवघर के द्वार,
शिथिल होते जा रहे हैं मर्म-तंत्री तार।
लुप्त होता जा रहा है ग्रन्थ का आख्यान,
एक पक्षी भी न भजता तरु-शिखा पर नाम ॥

सूखते हैं कलित विकसित कंज-मूर्छित पात,
हिम न है, है राजमद का दग्ध उल्का-पात।
दिवस ढलता अश्रुमयि आती अधीरा रात,
मौन है भय से न कढ़ती धर्म की भी बात ॥

कर्म के नव सम्पुटों में कल्पना है बन्द,
डर भवन का ज्वलित दीपक रूप में है मन्द।
देखता है मुग्ध लुब्धक अनघ जाल पसार,
धर्म-पथ तम संकुलित है रुक रहा व्यापार ॥

क्षण जिसे मैं देखता हूँ पल पलक से दूर,
इस विषम ज्वर का न मानव पा सका क्या मूर।
आज मानव के लिए मानव बना खूँखार,
क्यों न फिरती है अपर्णा सी खुली तलवार ॥

हम द्विजों की देव भू वह स्वर्ग सी कश्मीर,
क्या उठेगी प्रकम्पित हाथ में शमशीर।
पर किसी द्विज में न जगती धर्म की सुस्फूर्ति,
पद प्रताड़ित मन्दिरों की दूर गिरती मूर्ति ॥

सामने हैं बिलबिलाते दुधमुँहे ये लाल,
व्योम को भी चाहता है वह व्यथा का ज्वाल।
आज धुलते जा रहे हैं माँग के सिन्दूर,
काँपती लज्जा खड़ी इन पापियों से दूर ॥

आज तक सुनता रहा लंका दहन का नाम,
पर धरा पर आज जलता सत्य का ही धाम।
है धरा पर राजमद या काल का अन्धेर,
है फतिंगा भस्म होने में जरा सी देर ।।

आज घन के इन्द्र-धनु पर भी नहीं है रोष,
व्योम से भू तक पवन में भी न है परितोष।
जब धरा पर धर्म का शुचि भस्म होता क्षेत्र,
खुल नहीं तब भी रहा शिव का प्रलय त्रिनेत्र ।।

हो रही माँ के दृगों से अश्रु की बरसात,
एक पत्ता भी न कहता धीरता की बात।
किस भुजा पर फरफरावे यह धरम का केतु,
कौन बाँधे रक्त-निधि पर बढ़ विजय का सेतु ।।

क्या धरा पर सो गई अपनी पुरानी शान,
अब तलक जिसने बचाया धर्म भू का मान।
जो लिखाता उर-लहू से ग्रन्थ का आख्यान,
क्या न अब कोई करेगा वह पुरातन काम ।।

तो चलो मिलकर चलें अब धर्म गुरु के पास,
है टिका जिसके हृदय में धर्म का विश्वास।
खेलता जिसकी भुजा पर जाति का ऐश्वर्य,
फरफराता लोभ पर है होम व्रत का शौर्य ।।

जो चले पल में उड़ाने फूँक से अघ-जाल,
जो बढ़े हैं काल से भी ठोंक करके ताल।
देखता जिसका वदन है मौन चारों धाम,
जो पढ़ाते मौन को भी ग्रन्थ का आख्यान ।।

कामना जिसकी कलम है उर बना मसि पात्र,
ग्रन्थ का सित पृष्ठ जिसका है बना शुचि गात्र।
ले लहू अरि के हृदय का लिख रहे इतिहास,
है समय की सेज पर सोता अमर्ष विलास ।।

काँपता जिसकी भृकुटि के सामने है काल,
रवि नहीं जिसको दिखा सकता नयन निज लाल।
जो पचाते जा रहे हैं धर्म-भू का पाप,
शीश लेकर हाथ पर योगी बने हैं आप ॥

बढ़ चली द्विज-मण्डली आनन्दपुर की ओर,
जो बना था जन-विकल-चंचल हृदय का छोर।
गूँजते निर्भय जहाँ थे ग्रन्थ के आख्यान,
भेजता था जो तुमुल में धैर्य का सन्धान ॥

झूलता था धर्म-तरु से जग-विभूति-विनोद,
घूमता था सरल-सुन्दर सहज सत्य समोद।
खेलती थी कल्पना की वल्लरी दिन-रात,
ग्रन्थ-नभ में राजती पीयूष की बरसात ॥

विश्व का व्याकुल-हृदय करता उसे प्रतिदान,
था धरा का धन, सुयश का दिव्य रूप महान।
गोद में उसके विचरता शिव अभय छविमान,
सिन्धु सा शीतल हृदय से व्योम सा वरदान ॥

प्रश्न का उत्तर समेटे वह पड़ा था शान्त,
था चिरन्तन स्नेह से सिंचित सुकोमल कान्त।
पास आकर आज तक कोई न हुआ अधीर,
वह मलय का था पवन औ मेरु सा गम्भीर ॥

विषम कोलाहल जगत कर रहा था पान,
शान्त निश्चल था लगा परितोष का उद्यान।
देखता था वह सजल माँ का प्रमंजन रूप,
खोजता था बुलबुले के बीच में छवि-भूप ॥

लोचनों में है छिपा लावण्य रूप अनूप,
ज्योति प्रज्ञा का जलकर देखता सद्रूप।
आह कितना गूढ़ अन्तर का बड़ा छवि-धाम,
जीव-सेव ही बना उस द्वार का नव काम ॥

आ रही थी दूर से साकल्य-सुरभि अमन्द,
गा रहा था विरुद में चंचल-पवन नव छन्द।
उठ रही आनन्द-सर में मधुर लोल तरंग,
मधुकरी को था खिझाता छिप प्रमत्त अनंग ॥

उड़ रहे थे तरु-शिखा पर अभय-मस्त विहंग,
पंख में था बल हृदय में थी विराग तरंग।
हर्ष की उठती लहर थी चूमती आकाश,
मुसकराता था समा पर सत्य का आवास ॥

खेलते थे पशु हृदय में था न द्वेष-निशान,
स्नेह का छाया हुआ था एक सुखद वितान।
था न कोलाहल कहीं मिलते सभी सानन्द,
हाथ में थी शक्ति, मुख में था निगम का छन्द ॥

चल रहे थे सुघर पथ पर सुखद-तरु की छाँह,
चूमती थी देव-पद को सुखद करके राह।
पथ विकट था पर न था उनको जरा भी क्लेश,
एक घटिका ही दिवस भी रह गया था शेष ॥

दूर से देखा सबो ने धर्म-गुरु का केतु,
जो धरा से स्वर्ग जाने को बना था सेतु।
जो बुलाता था पथिक को जो पड़े हों क्लान्त,
और झलकर व्यजन करता भ्रमित मन को शान्त ॥

कह रहा था व्योम से वह शस्त भू की बात,
किस तरह फैले प्रभा औ मिट चले यह रात।
भेजता था निज जलद से दूर तक सन्देश,
औ सुनता शून्य में था सत्य का उपदेश ॥

ज्ञान की गरिमा, सुयश का वह अतुल्य निशान,
बुलबुले सी देह का संचित वही था प्राण।
कामना की मधुरिमा से खेलता था खेल,
अर्चना की ज्योति ले शिव से कराता मेल ॥

आ गये आनन्दपुर में विप्रगण सानन्द,
खेलता था मधु किरण पर गुंजरित आनन्द।
धर्म-गुरु निकले उटज से खोल करके द्वार,
ब्रह्म ज्यों माया-प्रभंजन कर खड़ा साकार ॥

भ्रमित उस द्विज-मण्डली ने किया गुरु-मनुहार,
औ पिन्हाया प्रेम से श्रद्धा-कुसुम का हार।
हो गये गद-गद् त्वरित देते हुए आशीश,
भ्रान्त मानव के हृदय में शांति दो हे ईश ॥

कह सुनाये विप्रगण आया हुआ एलान,
बाल-बूढ़े-नारियों का हर रहा जो प्राण।
बाभनो ! कलमा पढ़ो धमका रहा है शाह,
जो अड़ो तो शीश दो धमका रहा हैं शाह ॥

हे प्रभो ! इस क्रूर-ज्वाला में जलद हैं आप,
खोल अन्तर्ज्योति पल में भस्म कर दें पाप।
जग उठे फिर से प्रभो ! सोया हुआ ऋषि-शाप,
धुल चले श्रद्धा जलद से धर्म का अभिशाप ॥

•

पुस्तकों का मूल्य दिनदूना आसमान छूने वाला हो रहा है। अतः उनकी पूर्णतम सुरक्षा का ध्यान रखकर संस्था की सम्पत्ति-रक्षा कीजिए। उसकी सम्पत्ति माने आपकी अपनी ही सम्पत्ति।

पाँचवाँ सर्ग

देख यह महाप्रलय का दृश्य,
छोड़कर प्राची का छविधाम।
सजग कर अरुण सारथी शीघ्र,
चल पड़े अमल कमल-भगवान ॥

काँपते ग्रह उपग्रह सविशेष,
व्योम का सुघर पन्थ का शान्त।
काल के असह ज्वाल से तप्त,
खोजता भू पर तम एकान्त ॥

काँपता पवन विरुध के बीच,
छिपाये हुए प्राण का मोह।
सोचता आज प्रकृति के अंक,
कहाँ से जाग गया यह द्रोह ॥

मुदित सुमनों का सौरभ आज,
ले रहा क्यों व्याकुल उच्छ्वास।
धरणि जो सजल बिहँसती नित्य,
आज क्यों जगी अमिट यह प्यास ॥

जलज जो सजल सेज पर बैठ,
बने रहते नित थे छविमान।
दुखी क्यों हैं आँखें कर बन्द,
कृशित विधवा के हृदय समान ॥

बिकल है भ्रमर अलस पर मार
मिलन-मधु पीते नहीं सचाह।
न जाते लता-सुमन के पास,
जला है रहा मानसिक दाह ॥

विकल सुर-सुन्दरियाँ हैं आज,
न भाता उनको हास-विलास ।
देखती अपलक अवनी-पाप,
वदन पर है नव मलिन-रुआस ।।

सोचती मन ही मन यह आज,
नियति का है रहस्य निरुपाय ।
विचरता अघ है सोना तान,
पड़ा है पुण्य थका निरुपाय ।।

मलय की शीतल मन्द सुगन्ध,
जलाती आज जगत का गात ।
मधुरिमा का भोला यह कान्त,
बना अभिशाप उदित यह प्रात ।।

जननि का हृदय हुआ दो टूक,
सुनी जब दिल्ली का फरमान ।
गरजता सिर पर था अविराम,
क्रूर वंचक नृप का एलान ।।

धर्म-गुरु तेग बहादुर आज,
शीश पर ले स्वजाति का मान ।
नियति के अगम पन्थ पर मुदित,
कर रहे हैं सहर्ष प्रस्थान ।।

ज्वलित दिल्ली के प्रांगण बीच,
आज होगी गुरु की पहिचान ।
धर्म है श्रेयस्कर जग मध्य,
या कि अपनी प्यारी है जान ।।

मलय से पा पावन सन्देश,
और प्राची का अन्तिम प्यार ।
धर्म गुरु कर निद्रा का त्याग,
लगे करने प्रातः का कार्य ।।

लिये पूजा का शुचि सामान,
चले वे गुरुद्वारे की ओर।
कामना की उत्ताल तरंग,
चूमती थी भू से नभ छोर ॥

नील नभ का स्वर्णिम उच्छ्वास,
और धरती का धानी रंग।
बनाता था माया-जल-मध्य,
क्षणिक नर बुद्बुद चपल तरंग ॥

खेलता था तृष्णा का मीन,
अचेतनता का भोला प्रात।
पकड़ने को उसको अविराम,
लगाये था जीवन का जाल ॥

कभी आशा का सुघर सुमेरु,
चूमता अम्बर बना निरीह।
कभी उत्तप्त निराशा-ताप,
गलाकर कर देता है ढीह ॥

इसी नश्वर मृगतृष्णा बीच,
चुका सम्बल होता निरुपाय।
सोचता असद् जगत म्रियमाण,
और वह किस पथ से अब जाय ॥

ग्रन्थ के पद पर रख उपहार,
गुरूजी हुए भक्ति में लीन।
अर्चना करने लगे सचाव,
ईश ! जग में हो धर्म न दीन ॥

जगत के अश्रु-अश्रु में व्याप्त,
विहँसती सब तेरी ही मूर्ति।
पवन में गति, किरणों में ज्योति,
और जड़-चेतन में सु-स्फूर्ति ॥

तुम्हारे ही रहस्य को ईश,
खोजते हैं रवि-शशि दिन-रात।
प्रभा से प्रेरित मलय समीर,
सुनाता रहता तेरी बात ॥

शरद की शुभ्र ज्योत्स्ना बीच,
प्रभो ! तेरी ही है मुसकान।
जगत के मानस-सर के भाव,
कंज को करते हो मधु-दान ॥

तुम्हारा ही स्वरूप है देव,
चेतनामय यह विश्व महान।
युगों से ले प्रज्ञा का दीप,
खोजने पर भी है अनजान ॥

काल है कवल, जागरण दिवस,
नींद है प्यारी भोली रात।
पवन उच्छ्वास हृदय है सिन्धु,
स्नेह की धारा है बरसात ॥

प्रभो ! लेने आया हूँ आज,
तुम्हारा मैं अन्तिम वरदान।
चढ़ाने जाता हूँ मैं आज,
धर्म पर प्राण-सुमन का दान ॥

लौटने लगे गुरू सविनोद,
हृदय में हँसता था वरदान।
प्रकृति का उलझा हुआ रहस्य,
सुलझ कर देता था मधु-दान ॥

धरा थी धन्य, व्योम था मस्त,
झूमता था सुमनों का शीश।
प्रकृति का अणु-अणु था सानन्द,
दे रहा गुरु को शुभ आशीश ॥

मलय का शीतल मन्द समीर,
कर रहा था शीतल नव पंथ।
विटप का पात-पात सहुलास,
सुनाता था मंगलमय ग्रन्थ ।।

खेलते थे बालक गोविन्द,
नगर के बाल सखा के साथ।
नियती भी भर कर उनको अंक,
हुई वसुधा पर आज सनाथ ।।

चूमती शैशव सुषमा गात,
राजसी छवि पर थी मुसकान।
दे रहा था सबको सविनोद,
घूम कर पवन दिव्य वरदान ।।

व्योम की करुण कामना नित्य,
शुभ्र किरणों पर हो आरूढ़।
समय के स्वर्ण मार्ग से मत्त,
शान्ति की पकड़े वल्गा गूढ़ ।।

उतरती थी भू पर चुपचाप,
और जाती गोविन्द के पास।
कमल पद का करके मधुपान,
बुझाती अपनी युग की प्यास ।।

पूर्वजों के पौरुष की साध,
पहन कर राका का परिधान।
निशा में आती शिशु के पास,
स्वप्न में दे जाती वरदान ।।

हृदय में भजते प्रभु का नाम,
गुरूजी लौटे अपने धाम।
स्नेह के सर का विकसित कंज,
कल्पना का स्वरूप छविमान ।।

प्रणय के सिन्धु विमंथन बाद,
मिली जो कल्पद्रुम की डाल।
उसी पर उनके कोमल भाव,
झूलने लगे हिंडोला डाल ॥

रहा शिशु ही अन्तिम अवलम्ब,
जहाँ रखते निज संचित कोश।
पूर्ण करके निज जीवन-यज्ञ,
स्वर्ग में पाते वे परितोष ॥

खेलना छोड़ पुत्र गोविन्द,
आ गये पूज्य पिता के पास।
सुनाने लगे पिता हो स्वस्थ,
जाति-जीवन का शुचि इतिहास ॥

लाल ! यह भव-सागर है धन्य,
तिर रहो माया की है नाव।
पहन कर तृष्णा का परिधान,
कर रहा यात्रा विश्व सचाव ॥

तना है मन का ऊपर पाल,
उठ रही सुख-दुख चपल तरंग।
राजता उस पर है सविनोद,
वासना का ले कुसुम अनंग ॥

मोह का शीतल मन्द समीर,
धरे मद के कन्धे पर हाथ।
चला है रहा इसे दिन-रात,
अलसता के गाने के साथ ॥

तिमिर से आवृत है भव पंथ,
गरजती परवशता सविशेष।
विकल होता यह सोच सवार,
अभी कितनी यात्रा है शेष ॥

लिए कर में मालायें शुभ्र
खड़ी ललनायें शक्ति स्वरूप।
डाल गुरु-ग्रीवा में तत्काल
कहा विजयी हों मानस-भूप ॥

किए गुरु पाँच शिष्य के साथ
धर्म हित दिल्ली को प्रस्थान।
तना था अन्तरिक्ष में शुभ्र
सफल आशा का सुखद वितान ॥

चला था सभा-सचिव गुरु संग
नाम था बुध द्विजेन्द्र मतिदान।
न माना किसी तरह वह शिष्य
किया प्रतिछाया सम प्रस्थान ॥

छठा सर्ग

कराल-काल-ज्वाल-सी मयूखें चलीं व्योम छोड़,
सुप्त आत्म-गौरव स्वदेश का जगाने को।
भासमान भानु-सा पुरातन स्वधर्म-गान,
सुषमा से आर्य-धाम-केतु पै लिखाने को॥

आशा असीम वीर - भोग्या शुचि जननी की,
बढ़ती सरोष घोष व्योम को सुनाने को।
आज म्लेच्छ यवनों की नारी यह दिल्ली है,
बैठी पति साथ धर्म-पूत को पचाने को॥

आती नहीं लज्जा इसे आप हुई यवनों की,
जाति की विभूति म्लेच्छ हाथ में थमाती है।
आर्या के पावन सुहाग का निशान त्याग,
यवनों के रूप पै स्वरूप को सजाती है॥

धिक है तुम्हारे इस नश्वर स्वरूप को रे!
भूल गई धर्मराज कभी तेरे पति थे।
भूल गई सास को जो पट्टी बाँधे जीवन भर,
रह गई क्योंकि नेत्रहीन प्यारे पति थे॥

इतना तुम्हारा क्षम्य होता अभिसारिके जो,
रहती तू पृथ्वीराज की हो बनी कामिनी।
धर्म के सुग्रन्थ के बताए सत्य पंथ का,
पति-पद-रज ले जो होती अनुगामिनी॥

लोक भी बिगाड़ा परलोक भी बिगाड़ा तू ने,
जाति का नगाड़ा फोड़ा म्लेच्छ पति वर के।
आज तू चली है रूप-मद में विभोर हुई,
धर्म-दीप फूंकके बुझाने आर्य-घर के॥

देख लेना धर्म-दीप जलता रहेगा यह,
चाहे चलें प्रलय उनचास पवन तल पर।
नभ यह भले हो सिन्धु-अंक में तिरोहित हो,
लेकिन क्षात्र-धर्म चमकेगा शतदल पर॥

बनी दीन वदना-सी दिल्ली चुपचाप खड़ी
सुनती उलहना दिशाओं के किनारे से।
खिला हुआ फूल-सा बदन मुरझाता जाता,
तन जलता था रवि-ज्वलित अँगारों से॥

उठता कभी था भाव हिन्दू-कुल-सतियों सा,
चाहती थी शुचि-भूमि-अंक में समाऊँ मैं।
जनक-दुलारी की पवित्र-पद-रज ले लें,
भाल से लगा के मुख कालिख मिटाऊँ मैं॥

धिक है हमारे इस रूप को जो विधि ने,
टेसू के सुगन्धहीन फूल-सा बनाया है।
धन्य है मनुज मद चूर ज्ञानहीन हुआ,
विष-कन्या हूँ पर छाती से लगाया है॥

सोच परवशता कराल-लौह-शृंखला की,
फटिक फर्श पै दहाड़ वह खाती थी।
सजी हुई मोतियों की माला टूक-टूक हो,
पात-पात अमल अन्मद मुसकाती थी॥

सोचती थी अब न रहूँगी इस विश्व बीच,
म्रियमाण वैभव की बनी राजरानी मैं।
अब न सुनूँगी नभ-धरणी-दिशाओं से,
व्रीड़ा-विमोहित स्वकर्म की कहानी मैं॥

गूँजी प्रलयंकर ध्वनि इसी बीच शाह की,
मानो प्रलय-मेघ-बीच दामिनी कड़क उठी।
करिणी के कर-सी गठिली युग्म बाँहें भी,
रोष के प्रभाव से फड़ाफड़ फड़क उठीं॥

आया नहीं मजहब का नेता गुरु तेग सिंह,
लिखता है सिंह क्यों सियार बना बैठा है।
या कि लिये छोटी धनुही बहादुरी में,
मजहब की आन पै उत्तान पड़ा ऐंठा है॥

देखूगा जमी पैं खड़ी कौन वह हस्ती है,
जो कि शाही बात को हजम कर जायगी!
बहता अमन्द मेरी मजहब की दरिया को,
शिला के समान रोक अड़ी रह जायगी॥

हस्ती क्या जमी की है आसमाँ भी काँपेगा,
जब हिन्दू मजहब की पसली मैं तोड़ूँगा।
तोड़ तोड़ तन से जनेऊ औ कुरान दे दे;
मसजिद बनेगी और मन्दिर मैं तोड़ूँगा॥

देखता हूँ हिन्दू कौम कैसे यह रहती है,
शाही आँख उस पर यह मौत सी गड़ी ही है।
आज बच जाय बच जाय भले हो किन्तु,
कल जरूर मौत सिर पै खड़ी ही है॥

इतना कह शाह बैठा सोने के सिंहासन पै,
नासिका की तप्त श्वास रोष को जगाती थी।
दायें-बायें षोड़शी कुमारियाँ खड़ी खड़ी,
कम्पित करों से मन्द व्यजन डुलाती थीं॥

'सतश्री अकाल' की सुबानी गूँजी व्योम बीच,
प्रतिध्वनि गूँजी अचला के कण-कण में।
घूम-घूम करता था जपजी का पाठ वायु,
कुँभिलाये फूल मुसकाये क्षण-क्षण में॥

वासव के कुलिश सा नाद हुआ भूधरों का,
छुट गई धीरता अधर्म काँपने लगा।
पाहन - कठिन - दम्भ - पीठ तोड़ फोड़ कर,
पावन प्रकाश सहुलास राजने लगा॥

चल पड़े गण भूतनाथ के गिरीश छोड़,
निज निज कुलिश - कटार मचकाते हुए।
सत श्री अकाल की सुबानी परितोषमयी,
नाच नाच अभय अनन्त से सुनाते हुए ।।

नील-नभोदेश में सुभेस - आर्य - धाम का,
गरिमा सुग्रन्थ की समोद लहराने लगी।
ईति-भीति अचला का क्षण में करस्थ कर,
सोई हुई ज्योति कण-कण में जगाने लगी ।।

नाच नाच योगिनी प्रमत्त रक्त - रंजिता,
कराल-काल - ज्वाल सी कटार चमकाने लगी।
वैभव-उमंग की तरंग में मदान्ध हुए,
शाही - मगरूर का वह वक्ष धड़काने लगी ।।

बार बार पत्थर के पत्थर-से मानस में,
सत श्री अकाल की सुबानी गूँजने लगी।
ज्योतिहीन धर्म के प्रताड़ित शुचि-दीपक को,
तिमिर में सत्य की सुछवि सूझने लगी ।।

पाहन - गठित दृढ़ दिल्ली का सुवक्ष भेद,
जपजी का मन्त्र पतिपल गूँजने लगा।
क्यों रे शाह ! मद में मदांध हुआ बोल तो तू,
न्याय क्या है सूक्ष्म रूप धर पूछने लगा ।।

बोल बोल पातकी तू किसके लिये है निज
पाप का पहाड़ बनवाता चला जाता है।
सूझता नहीं है तुझे रात दिन एक मान,
बार-बार विष-बीज बोता चला जाता है ।।

बूझता नहीं है तू राजा का धरम क्या है,
राजा भी तो अचला का एक भगवान है।
उसके इशारे पर नाचती है सारी प्रजा,
सबकी ही मति से बना वह मतिमान है ।।

उसके ही सत के अथाह के सुनीर पर,
सारी प्रजा बढ़ती और फूली न समाती है।
सुख के सुमेरु के शिखर पर सुख से,
बैठ कर चैन की वह बाँसुरी बजाती है॥

चौंक पड़ा शाह उत्साह पड़ा मन्द छन्द,
जपजी का पावन अमन्द गूँजता रहा।
देखता कभी वह वक्र दृष्टि से सभासदों को,
मन में कौतूहलमय प्रश्न पूछता रहा॥

कोई है दिखाई नहीं देता जो हवा में छिप,
बार - बार पूछता जवाब है गरज कर।
चाहता है मुझको डराना यों सभा के बीच,
तीखी-तीखी बातों से विचार को बरज कर॥

गूँजी ध्वनि प्रतिध्वनि पुनः उस कक्ष बीच,
भावना अनघ की अमन्द काँपने लगी।
ज्योति आर्य, धाम की सशक्ति भक्त-रक्त की,
रश्मि की ले रज्जु शुभ्र व्योम नापने लगी॥

छाई निस्तब्धता सभीत कक्ष काँपता था,
हाँफता था दम्भ बाँह वक्ष में समेट कर।
क्रूर व्यंग हासमय भविष्य राजता था वहाँ,
शाही मगरूर काल-ज्वाल में लपेट कर॥

काँपता कलेजा पल-पल पै उपल का था,
आर्य - धर्म मुष्टिका - प्रहार सोच - सोच कर।
चिन्ता - निमग्न भग्न आशामय औरंगजेब,
सोचता भविष्य दीर्घ दाढ़ी पोंछ-पोंछ कर॥

काँपता समीर सविशेष पौर द्वार पर,
साहस नहीं था जो प्रवेश को कक्ष में।
अब भी था व्रण लंकेश तेज दासता का,
उसके प्रवहमान शुभ्र सूक्ष्म वक्ष में॥

सोचता है आर्य-केतु सेतु भव - जीवन का,
इसको समोद अन्तरिक्ष में उड़ाना है।
शाही दम्भ पीठ पर प्रचण्ड पद-मार कर,
फाड़ फाड़ तम श्रुति - तेज ही दिखाना है ।।

इस तमोदेश में निदेश आर्य - जाति का,
शान्ति का दिनेश, रूप आत्म-बलिदान का।
सुरधुनि सेव्य सुललाम रूप शिव का,
शौर्य का स्वरूप त्राण आर्य-मतिमान का ।।

शीतल हुलास मधु मस्त मधुमास का,
पावन-पराग अम्बिका के पद-पद्म का।
धन्य धन्य अचला की कोख की महाविभूति,
काल विकराल दम्भ-द्रोह छल-छद्म का ।।

गुरू तेगसिंह से स्वरूप में सभा के बीच,
भेद मोह - तमो - तोम क्षण में चमक उठा।
मानों विश्व मंच पर सुखद संदेश देने,
खोल माया-पट ब्रह्म क्षण में दमक उठा ।।

बोला शाह राजसुख-मद में मदान्ध हुआ,
"बोलो गुरु अब तो कबूल इस्लाम है।
छोड़ गुरु-ग्रन्थ-पोथी हाथ में कुरान ले लो,
अब तक मेरे सारे जहाँ का कलाम है ।।"

बोले गुरु मानस का शमित अंगार जगा,
"शाह ! इस्लाम और हिन्दू मत एक हैं।
केवल रहीम-राम के ललाम धाम तक,
जाने के जहान में सुपन्थ ही अनेक हैं ।।

एक रूप ईश का जहानमय नदीश में,
नाना रूप बुद्बुद सा बन लहराता है।
अन्त में प्रपंचमय प्रवंचना - समीर से वह,
त्रस्त तद्रूप हो उसी में छिप जाता है ।।

एक माया मोह तम अंक में बिठा के उसे,
राग-द्वेष, छल छद्म-अस्त्र निज थमाती है।
नर को नचाती निज भुवन-भुवन बीच,
कीच काढ़ उसे महागर्त में गिराती है॥

इसलिए आप मत अपने पै गर्व करें,
गर्व में फलाफल का ज्ञान नहीं होता है।
गर्व हो परार्थ के लिए जहान-बीच शाह!
वही नर मानस-विजेता नित होता है॥"

बात सुन क्षण में तमक उठा औरंगजेब,
अधर फड़क उठे दम्भ के कुभाव से।
बोला गुरु-ओर वक्रदृष्टि से विलोक कर,
कलुष हृदय के प्रपंच के प्रभाव से॥

जल्द कहो बात मेरी तुमको कबूल है या,
कोई करामात हो दिखाओ उसको भी अभी।
थोड़े में सुनाओ जो कि कहना तुझे हो यहाँ,
बात के भुलावे में न डिग सकता हूँ कभी॥

अट्टहास गूँजा धर्म-गुरु का सभा के बीच,
कहने लगे वे प्रेम-वारि बरसाते हुए।
भव में विभव की महाविभूति शान्तिमयी,
अचला के कण-कण बीच दिखलाते हुए॥

"शाह! सोचते हो तेरी लोहित कटार मुझे,
सत् श्री अकाल के सुपंथ से हटाएगी।
शस्त्र का विजेता कभी शास्त्र नहीं जान पाया,
मौत क्या सुग्रन्थ से कुरान पढ़वाएगी॥

रवि चाहे निकले प्रतीची के सुहर्म्य से,
खिले जल जात गिरिराज पै समोद में।
चाँदनी सुहागिनी हो सुषमा के आँगन में,
शशि मुसकाने लगे दिवस की गोद में॥

लेकिन हे शाह ! ये अकाल के पुजारी वीर,
रंचमात्र डिग नहीं सकते सुपंथ से।
नभ यह भले ही चला आवे भूमि-आँचल पै,
लेकिन यह मन नहीं हटेगा सुग्रन्थ से ।।

बधना का पानी हिन्दुआनी को कबूल नहीं,
चाहे जिन्दगानी बीते पड़ी कारागार में।
जीभ यह जपेगी सदा जपजी का मंत्र शाह !
चाहे भुन जाय पाप ज्वलित अंगार में ।।

सोचते हो मौत की विभीषिका से काँपेंगे ये,
कफन तो सिर पे सदा ही बँधा रहता है।
वीर तो सदा ही चलते हैं सिर कर में ले,
कायर कपूत मीचु की ही बात करता है ।।

तेरा इस्लाम जैसे तुमको है प्यारा शाह !
वैसे मेरी शिखा मेरे जीवन की जान है।
जैसे कुरान तेरे दीन का विधान शाह !
वैसे मेरे जीवन का प्राण भी पुरान हैं ।।"

बात सुन शाह क्रुद्ध सिंह-सा गरज उठा,
जल्द बुलवाया क्रूर कुपित जल्लाद को।
बन्दी करवाया शीघ्र सीकचों के बीच में,
माई के सपूत उस वीर फौलाद को ।।

बचे पाँचो शिष्य भी तो धरम पै अड़े ही रहे,
हार गए मौलवी न धरम वे बदल सके।
धन, पद, माया की वे क्षणिक विभूति पर,
तन, मन, कर्म से रंच भी न बदल सके ।।

अन्त में हुकुम हुआ शाही दरबार का कि,
कत्ल करीं पाँचों को ले नंगी तलवार से।
मातु वसुधा के इन पाँच वीर पूतों ने,
खेई धर्म-नाव निज शीश-पतवार से ।।

गूँजा नाम व्योम का समीर के सितार पर कि,
सिर दिए लाल सार हेतु गुरु-ग्रन्थ के।
अमल प्रदीप बने शीतल प्रकाश लिए,
माया, मोह, द्रोह चीर अमन्द सुपन्थ के॥

आई निशा रोती हुई ढक लिया आँचल से,
रोये दल-दल छल-छल व्यथा-भार से।
असह वियोग से विकल बावरी सी बनी,
पूछती बयार नभ, थल, पारावार से॥

कहाँ गए लाल? ताल ठोंकता अनघ-ज्वाल,
शाल उठती है मातु वसुधा की कोख में।
विधुरा के व्यथित कलेजा-सी दिशाएँ बनीं,
मौन वनराजी खड़ी हाँफती है शोक में॥

कोई है दिखाता नहीं पथ पथराता कहीं,
सही नहीं जाती व्यथा अब हाहाकार की।
बन्दी हुए गुरु बन्दी हुई देश-आशा अब,
कब ध्वनि होगी यज्ञ-अर्चि-धुधकार की॥

नाचती है द्वेष-ज्वाला लिए साथ मोचु-बाला,
पाला पड़ा आज देवघर के सुमन पर।
रोती बिलखाती सुतहीना बेपरानी नारि,
नाना व्रण हरे हुए जननी के तन पर॥

कोई है सपूत नहीं लावे जो जीवातु यहाँ,
अभय जगावे सोये धरम के केतु को।
ठोंक-ठोंक अरि के कबन्ध को समर-बीच,
फिर से बना दे धर्म-श्रुति-भग्न सेतु को॥

इस भाँति करती विलाप रात गत हुई,
शत-शत खुलीं आँखे रजनी की गोद से।
व्यथामय समीर चला, श्यामा का शरीर ढला,
नाच चली प्रेतिनी कपाल लिए मोद से॥

रवि चले शिव के त्रिनेत्र-सा प्रदाह लिए,
चला पवन स्वपन समेट सुप्त भाल में।
लाल-लाल सुषमा के विन्दित चरण चले,
नील वस्त्र धारिणी विराजी रश्मि-जाल में ।।

राजसुख स्वेच्छा त्यागी विगत विभूति आई,
अवनी पै देखने महान नरमेध को।
पावन प्रकाश प्रमुदित बतलाने चला,
जगती के असद् अगत दुर्भेद को ।।

खोल-खोल सुमन सजल दृग अपलक,
पल्लव की अंजलि में मधु-दान भर के।
प्राप्त करने को गुरु-यज्ञ-भस्म अनुपम,
जोहते थे पथ उर मध्य ग्रन्थ धर के ।।

सज गया शाही दरबार मोती-झालरों से,
मानों काल-कुण्ड ही सजा हो व्यवधान से।
नभ बीच सत् श्री अकाल की सवारी सजी,
देखने को ईश-अभिषेक वर प्राण से ।।

लाए गए गुरु करबद्ध कारागृह से,
दायें-बायें क्रूर जल्लाद थे गरजते।
मानो सत्यावृत चला आता हो परमब्रह्म,
दायें-बायें माया-मोह-द्वेष हों तरजते ।।

मुख पर मन्द मुसकान परितोषमयी,
उर में पुनीत ग्रन्थ तम को पचाता था।
राजता महान ऐश्वर्य भुज-बल पर,
कदम-कदम सत्य-ज्योति को जगाता था ।।

सभा बीच गुरु सहुलास समागत हुए,
काँप उठा शाही-दरबार गुरु-भार से।
जिसको था वासव का पवि भी कँपा न सका,
क्या वह कँप सकता है लघु तलवार से ।।

सोचा शाह भय से न कँप सकता है गुरु,
इसलिए प्रीति की कटार ही उठाना है।
ऊँचा पद इसे देके आवे मजहब में,
हिन्दू मजहब इस्लाम में मिलाना है॥

मन्द मुसकान साथ क्रूर बादशाह बोला,
"गुरु ऐसा पीर अब कहीं नहीं दिखाता है।
ऐसे इन्सान-सार जहाँ में कुरान होते,
खाक को भी नूर सा बना के चमकाते हैं॥

इसलिए मेरी है सलाइ आप से भी यही,
दीन छोड़ पीर बनें मेरे इस्लाम के।
आपकी हुकूमत के नीचे सारी प्रजा मेरी,
दास होंगे औलिया भी तेरे ही कलाम के॥"

हस्तामलक देखते हैं जहाँ को गुरु अब,
गुड़ साथ विष देख मन्द मुसकाने लगे।
उनको चला है द्रोही प्रीति से भुलाने भला,
वक्ष तान शाह की कुटिलता बताने लगे॥

"भय का न जब कोई जादू चल सका शाह!
अब लगे प्रीति की कटार दिखलाने मुझे।
मुझे क्या भुलाते हो भुलाओ अपने को तुम,
कुटिल तुम्हारी बुद्धि खुद समझाती तुझे॥

कुंजरों के दाँत के समान शीशदानियों का,
एक ही वचन अविचल अड़ा रहता है।
इसी पर चलता है जीवन का सारा क्रम,
मोह-माया-ज्वाला में अडिग खड़ा रहता है॥

चाहे उसे भले ही मिले न अन्न जल यहाँ,
प्रभु प्रेम वारि में अमन्द मुसकाता है।
अपने पुनीत खून का वह देके रक्त दान,
कीरति की कौमुदी जहान में हँसाता है॥

देख - देख धरम का खिला हुआ जलजात,
आफताब सम पात - पात मुसकाता है।
निज अस्थि - दान से बनाके वह पिनाक को,
आसुरी पचा के सुरवृन्द को जगाता है॥

सोच न उसे है शाह ! मिट्टी के शरीर का,
आत्मा तो अजर अमर मुसकाता है।
बन के किरीट भव बीच सुगिरीश का,
जयघोष धरम का नभ को सुनाता है।

देखते नहीं हो यह विराजती है वक्ष बीच,
बँधी हुई ईश की सुवानी सत्य दाम से।
कौन मुझे भला भुलवा सके विश्व बीच,
प्रभु के विभूतिमय धरम के धाम से॥

मरना मुझे है उतना ही सुखदायी शाह,
जितनी जवानी की कहानी उमगाती है।
मीचु की विभीषिका से डरता वही है नर,
जिसको स्वपाप की कहानी डरवाती है॥

यहाँ तो जगत बीच सींच निज खून से,
धरम के बिरवा को सत से बढ़ाना है।
हँस हँस ज्वलित हुताशन के आसन पै,
जपजी का पाठ कण कण को पढ़ाना है॥"

होता हुआ विफल प्रयास देखकर सारा शाह,
क्रोधित फणीश सा प्रमत्त फुफकार उठा।
मानो वारि एक बूँद ज्वलित उदर बीच,
पड़ते ही ज्वालामुखी कुपित अंगार उठा॥

अन्तर्यामी गुरू सारी बात को समझ गये,
छोड़ तन पहले ही ब्रह्म में विलीन हुए।
रह गया तुच्छ पड़ा मिट्टी का शरीर वहाँ,
भाव अनुभाव पल में ही उदासीन हुए॥

क्रोधानल-कुपित जल्लाद बुलवाया वहाँ,
बोला, 'गुरु काफिर को खाक में मिलाओ अभी।
ताकि मिट जाय सदा जमी से रवानी यह;
सुने न सपूत की कहानी हिन्दुआनी कभी॥

ढक लिया रवि मुख, आँखें अश्रुपूरिता थीं,
देखी न अधीरता से माता बलिदान को।
आशाहीन, अबल, अधीर हो समीर चला,
व्यथित कलेजा थाम पकड़ा प्रतान को॥

टूट गई धरम की चन्द्रकान्त मणि वह,
शत शत टूक होके बिखरी गगन में।
ब्रह्म की विभूति परब्रह्म में विलीन हुई,
घात प्रतिघात भी समाया वीर भाव में॥

यमदूत सम चमचम चन्द्रहास लिये,
भृकुटि कुबंक दृग आये जल्लाद वहाँ।
ईश का पुजारी देख दुखित दुधारी हुई,
पर थे मुदित नर - क्रूर - औलाद वहाँ॥

अब भी वसुन्धरा पै लोहा औ उपल बीच,
पर-दुख देख दुखी होने का विचार है।
लेकिन मनुज तज धरम का सत् पथ
होता जाता दनुज समेटे अनाचार है॥

गुरु - शीश गिरा सस्य श्यामला के आँचल पै,
रोई कमलासना सपूत - दुख - दुःखिता।
शत - शत टूक उर हुआ वरदायिनी का,
रोई सृष्टि-तारिणी प्रचण्ड - वोर - वन्दिता॥

हुई हतभागी श्रुति, देश भी अभागा हुआ,
मिली सारी आशा जाति-धरम की धूल में।
नीर के सुपिण्ड में अगम भव-स्रोत छिपा,
काल छिपता है कमनीय मृदु फूल में॥

सातवाँ सर्ग

मानस-गिरि-गह्वर में सोया,
जाग उठा मृगराज।
चमक उठा आर्या के मस्तक
का तेजोमय ताज॥

उठा लिया कर में स्वदेश का,
सोया हुआ निशान।
जाग उठी मुर्दे मुर्दे में,
स्वाभिमान की शान॥

बोला वह स्वजाति के भय का,
गर्वित मानस चीर।
हुआ तमावृत म्लेच्छ वंश का,
आशा - कुसुम अधीर॥

तात सो गये चिर निद्रा में,
देकर यह उपदेश।
एक धर्म है, एक जाति है,
और एक है भेष॥

सत्य - मार्ग पर ही चलकर,
बन सकता है नव - पंथ।
तमसावृत दुर्गम रजनी में,
चमकेगा सद् ग्रन्थ॥

चिता बनी चन्दन की सोया,
आत्मोपरत शरीर।
चुभ जाता है जिस जीवन में,
मृदुल सुमन का तीर॥

जो न सह सका कभी विश्व में,
रंच मात्र भी ताप।
जो उदरस्थ मुदित करता था,
नित धरणी का पाप ॥

वह तन हँसता अग्नि-अंक में,
निश्चल सोया आज।
पड़ी दीन-वदना सी रोती,
है स्वदेश की लाज ॥

कितनी बड़ी विभूति जा रही,
जग से नाता तोड़।
आत्म-त्याग का दिव्य रूप,
जल-थल, अम्बर में छोड़ ॥

विचर रही नभ अन्तराल में,
विकसित कीर्ति समोद।
आज जगत में धन्य हो गई,
मातृ - भूमि की गोद ॥

धन, सुत, दारा और बन्धुगण,
देख रहे हैं खेल।
सबकी थाती सौंप रहा है,
हँसता हुआ अकेल ॥

पवन कह रहा रुद्ध कंठ से,
कहाँ गये गुरुदेव।
व्यथित दिशायें रो रो कहतीं,
कहाँ गये छविदेव ॥

व्यथा-ज्वालसे ज्वलित विटप भी,
शीश झुकाये मौन।
सोच रहे हैं मन ही मन में,
अटल धरा पर कौन ?

कीर्ति-कौमुदी या वैभव का,
माया - वेष्टित रूप ।
या आशा चौदहों भुवन की,
छाई हुई अनूप ।।

किसके लिए मनुज अवनी पर,
लगा प्राण का दाव ।
करता है निज बन्धु जनों के,
मर्मस्थल में घाव ।।

वह तो है असार जीवन में,
जगती जरा न माँख ।
रह न धरा पर जाती उसकी,
मुट्ठी भर भी राख ।।

रोता था गुरु-धाम व्यथा से,
आँखें करके बन्द ।
सोच रहा था कौन सुनावेगा,
जपजी का छन्द ।।

करके शुचि संस्कार पिता का,
बोले गुरु गोविन्द ।
रोते हो कायर सम क्यों,
प्रज्ञा-कपाट कर बन्द ।।

क्या यह जाति कभी भूलेगी,
यवनों का आघात ?
वंचक उस फणीश के सिर पर,
मारो पवि सम लात ।।

नहीं देखते दिवस पंख पर,
विचर रहे हैं तात ।
सुना रहे हैं पवन-बीन पर,
नव भविष्य की बात ।।

चढ़कर कनक-रश्मि के रथ पर,
देते है सन्देश ।
निर्निमेष ये सुमन सुन रहे,
उनका ही उपदेश ।।

घूम-घूम विहगावलि गाती,
उनका ही आख्यान ।
पात-पात पर लगा हुआ है,
उस यतीन्द्र का ध्यान ।।

तिस पर भी हम सोच रहे हैं,
वे हैं हमसे दूर ।
ईप्सितार्थ तक जाने में हम,
होते हैं मजबूर ।।

जब सिर पर है दिवस-नाथ तब,
होना नहीं अनाथ ।
धर्म-पंख पर बैठ बढ़ो,
दुगुने साहस के साथ ।।

बलि - वेदी यह जगी रहे,
जब तक हैं माँ के लाल ।
मुट्ठी में हो बन्द सपूतो !
काँपे वंचक काल ।।

तोड़ अनीति तृणालि-तुल्य तुम,
गरजो सिंह सपूत ।
कोसों दूर खड़े काँपें,
कर जोड़े यम के दूत ।।

लिखते हैं कपूत की किस्मत,
बे पूछे भगवान ।
दृढ़व्रती का भाग्य पूछकर,
लिखते हैं भगवान ।।

क्या सिंहिनी कोख से पैदा,
होता कभी सियार ?
सदाचार क्या काँपेगा,
विहँसेगा अत्याचार ?

वीर-भुजा को पाकर जगती
नागिन-सी तलवार ।
लंका-दाह सदृश पी जाती,
शोणित - पारावार ॥

बधने के पानी पर जागा,
अरि में यह अभिमान ।
विचर रहा है आर्य-भूमि पर,
कर सीना उत्तान ॥

किस दिन आवेंगे हम सबके,
गर्म लूह ये काम ?
क्या पंकिल होगा हम सबके,
रहते पूर्वज - नाम ॥

ये झेलम सँग प्यारी नदियाँ,
लेकर कर में नीर ।
हम सबसे कुछ आशा रखकर,
धोतीं सतत शरीर ॥

हम इतने कृतघ्न हो जावें,
भूल जायँ शुचि प्यार ?
पहने मुदित भवन में बैठे,
रूप - कुसुम का हार ॥

क्या उत्तर देंगे पूछेंगे,
स्वर्ग-लोक में तात ?
देव-सभा में मुदित कहेंगे;
किस सपूत की बात ?

वन्धु - जनों से इसीलिये,
मेरा यह है सन्देश ।
माया त्याग पहन लें अब से,
वीर शहीदी भेष ॥

धरणी बिस्तर बने और,
ओढ़ना होवे आकाश ।
मानस - सागर में लहरे,
मंगलमय सुफल विलास ॥

जीना उसने ही सीखा जो,
पढ़ा मृत्यु - इतिहास ।
जिसने देखा है विभीषिका
का करवाल विलास ॥

मृत्यु उसी की है सुखदायी,
जिसका दुख पाथेय ।
स्वर्ण वस्त्र - धारिणी-अंक में,
रहता अजर - अजेय ॥

उसकी वाणी बनती है,
संसृति का अचल - विधान ।
गाता ऊर्मि - अधर से सागर,
उसका ही जय - गान ॥

त्यागें भरत के सपूत,
कुसुमित - कामिनी - दुलार ।
बाल - वृद्ध, ललनायें भी लें,
कर में कुपित - कटार ॥

अभय बिहँसकर देखे उसको
तीखी तीखी धार ।
तभी राष्ट्र का हो सकता है,
यवनों से उद्धार ॥

सस्य - श्यामला की ग्रीवा में,
होगा जय का हार।
स्वतन्त्रता सहुलास करेगी,
धाम - धाम को प्यार ॥

भवन - भवन हो शस्त्रालय,
देवालय हो बलि - भूमि।
गुरुद्वारे का द्वार - द्वार वन
जाय समर की भूमि ॥

दावानल सम भभक उठा,
बालक गुरु का उपदेश।
जग-जन का सज गया शीघ्र ही,
रणधीरों सा वेश ॥

गूँज उठा जय-घोष गगन में,
जय - जय - जय गुरुदेव।
जाति-धर्म के रक्षक सफला-
जननी के जय देव ॥

चिता - भस्म से चमक उठा,
सबका तेजोमय भाल।
जाग उठा प्रतिशोध हृदय में,
चक्षु हो गये लाल ॥

•

आठवाँ सर्ग

सत्य-शिला के शुभ-वक्ष पर,
प्रभु-पद-पंकज-अमिय मिलिन्द ।
ध्यान - मग्न थे आसन मारे,
जन - मन-रंजन - गुरु गोविन्द ।।

आता मलय - समीर सुहावन,
लेता गुरु-चरणों की धूल ।
छाया हुआ प्रतान मनोरम,
नित्य चढ़ाता श्रद्धा-फूल ।।

ऊपर शैल - शृङ्ग - मालायें,
अन्तरिक्ष के हृदय - समान ।
ढके वदन स्वर्णिम प्रावर से,
करतीं छाया बनी प्रतान ।।

नीचे संसृति प्रकृति अंक में,
भाव-कुसुम से हो अभिषिक्त ।
सुषमा के सँग सोच रही थी,
भव-जीवन कितना है तिक्त ।।

उलझा हुआ रहस्य जगत का,
मृग-तृष्णा की पकड़े बाँह !
कुटिल कंटकाकीर्ण बनाती,
ज्ञान - धाम की सीधी राह ।।

सुख का दिवस कहीं मुसकाता,
कहीं बिलखती दुखमय रात ।
शीतल सुखद समीर कहीं है,
कहीं गरजता झंझावात ।।

राग - द्वेष का पहने नुपूर,
रूप कुसुम से कर शृङ्गार।
अन्तस-तमस-अजिर में रखतो,
चितवन सहित चरण सुकुमार ।।

थिरक रही माया - वाला,
सद्-ज्ञान-धाम को करती मन्द।
लेता मन समोद मधु - चुम्बन,
गाती काम - कला का छन्द ।।

जाता भूल बटोही पथ को,
लिये क्षणिक - आलिंगन चाह।
विकल ढूँढ़ता अन्धकार में;
बाला - बाहु - लता की छाँह ।।

आत्म-ब्रह्म के मिलन-बिन्दु पर,
थका अकिंचन वह निरुपाय।
एक पाँव से खड़ा सोचता,
सम्बलहीन किधर वह जाय ?

गरज रहा सामने सिन्धु है,
पीछे खड़ा अनन्त पहाड़।
किधर धरा का शांति-निकेतन,
काल - सिंह है रहा दहाड़ ।।

बिचर रही पलकों के पट पर,
उरजा अश्रु - जनित बरसात।
अंजलि-बद्ध दूर क्यों है यह,
खिला कामना का जलजात ।।

कहीं वासना की मधु-कलियाँ,
विद्रुम सी अधरावलि खोल।
रौप्य-खण्ड पर मन-अनंग से,
करतीं जीवन-सुख का मोल ।।

यह अदृश्य तेरा चल यौवन,
पावस-धनु सतरंगा फूल।
क्या यह कभी बनेगा नभ का,
कीर्तिमान उज्ज्वल मस्तूल ?

भव के बीच तुम्हारा भ्रम है,
शाश्वत समझ करो जो प्यार।
तेरे इस असत्य का उपवन,
पल में जल कर होगा छार ॥

कीर्ति-कौमुदी दूर हँसेगी,
देख तुम्हारा यह उन्माद।
बना पाप का कुण्ड रहेगा,
यह तेरा सूना प्रासाद ॥

पकड़ो मन का मीन अमर सुत,
छोड़ो रागारुण संसार।
सत्य-सिन्धु के चिर विलास पर,
अहोरात्र तुम करो विहार ॥

हाहाकार गरजता चहुँ दिशि,
जलधि-ऊर्मि-अधरों के साथ।
यह सब दृश्य ध्यान में गुरुवर,
देख रहे थे बारम्बार ॥

शनैः शनैः आवरण अमा का,
हटा हँसा नव दिव्य प्रकाश।
शरद कान्त सम प्रकृतासन पर,
चमक उठा वरुणेश-विलास ॥

पर ब्रह्म - पादारुण - नीचे,
चन्द्रकान्त सम शीतल शान्त।
भाव-कुसुम का पहन स्तबक,
शैल-नन्दिनी का वह कान्त ॥

अपने शुभ आजानु बाहु से,
पकड़े अचला का परिधान।
सुना रहा था पवन-बीन पर,
आत्म-चेतना का वरदान॥

प्रवहमान था अंग अंग नित,
मोम सदृश बन सत्य-प्रपात।
रश्मि-वसन से वेष्टित छविमय,
झलक रहा था अनुपम गात॥

तिसके ऊपर आसनगत थे,
सृष्टि-जनक आराध्य महेश।
उनके दृष्टि-दिवस के सम्मुख,
कुछ भी नहीं असाध्य अशेष॥

ऊपर जटा-जूट अम्बर का,
था अजान अनुपम विस्तार।
नीचे नख से द्रवित सुधा-रस,
बहता बन गंगा की धार॥

मानस-पलट हुआ अनुरंजित,
ज्ञान-दीप का हुआ प्रकाश।
लिये कामना-कुसुम-करों में,
बिहँसा आशा-सिन्धु-विलास॥

अपलक नेत्र पड़ा शंकर का,
वीतराग का विहँसा भाग्य।
जाति-धर्म का तम में सोया,
जाग उठा दिनमणि-सम भाग्य॥

मिला दिव्य वरदान ईश का,
एवमस्तु जाओ निज धाम।
पहन कवच परमार्थ-लौह का,
करो सहर्ष धर्म का काम॥

चले छोड़ कर नव उपत्यकता,
आर्य-भूमि के भाग्य-विधान।
लिये कामना की झोली में,
मिला हुआ नूतन वरदान॥

ज्ञान-दीप के नव प्रकाश में,
चले देखने जीवन - रत्न।
जैसे दीन दान-भिक्षा की,
रक्षा करता समुद सयत्न॥

बैठ बैठकर कवि-संगत में,
ज्ञानार्जन वे किये विशेष।
काव्य-कला श्रुति और निगम के,
अध्ययन में वे रहे अशेष॥

यवनों के भी धर्म-ग्रन्थ को,
मुल्लाओं से पढ़े सबोध।
सबके भीतर एक तत्व है,
इसका उनको हुआ प्रबोध।

शास्त्र-निगम में हो पारंगत,
सीखे शस्त्र-कला की रीति।
बरछी-भाले के प्रकाश से,
भागी उर की कलुषित भीति॥

घूम-घूम कर ग्राम-ग्राम में,
लगे सुनाने नव उपदेश।
एक धर्म है, एक कर्म है,
और एक है सबका भेष॥

ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र हैं,
एक पिता के चार कुमार।
सबके अन्दर एक तत्व है,
एक वंश का अमल विचार॥

गले गले से मिलकर खेलें,
करें धर्म-भू का उत्थान।
कृत्रिम उर-वैषम्य त्याग कर,
रक्खें निज पुरखों की शान ॥

शूद्र जिसे कहता है मानव,
वही धर्म की है बुनियाद।
प्रेम-नीर से ही चूमेगा,
नभ को गौरव का प्रासाद ॥

छोड़ हृदय की असित विषमता,
और रागमय असद् विचार।
जन्म-भूमि के सब सपूत हैं,
समझ करें आपस में प्यार ॥

ऐसे प्रेम-रज्जु का सम्बल,
कौन भला सकता है छीन।
कौन-भला जनमा है जग में,
जिसके सम्मुख हों हम दीन ॥

हम लड़ते हैं आपस में ही,
होता है अरि का उत्थान।
हम कब तक इस विषम-ज्वाल में
हूनेंगे निज सबल जवान ॥

एक कनौजिया नौ चूल्हा से,
होगा नहीं देश - उत्थान।
और न अपने स्वाभिमान का,
हो सकता सीना उत्तान ॥

सुन गुरु का उपदेश समुज्वल,
सबमें जागा नूतन ज्ञान।
घोर तमिस्रा वीर हृदय की,
जागा अपना नव-व्यवधान ॥

छोड़ शक्ति का सम्बल जो जन,
बैठे थे असहाय मलीन।
अहोरात्र जप-व्रत करते थे,
समझ जगत में निज को दीन ॥

वे जन बना शहीदी-बाना,
उठा लिए कर में करवाल।
ज्वालामुखी हृदय में उनके,
भभका शीघ्र हुताशन ज्वाल ॥

हृदय हवन का कुण्ड बन गया,
भस्म हुए सब अचिर कुभाव।
ज्ञान-सरोवर में मुसकाया,
सद्भावों का कमल सचाव ॥

तना काल के सम्मुख सबका,
स्वाभिमान से गर्वित वक्ष।
इङ्गितार्थ ले भाव-कुसुम को,
दिखलाया सहुलास प्रत्यक्ष ॥

अन्तरिक्ष श्यामल कर में ले,
आशा - सद्य - सुमन का माल।
चला आ रहा हो समोद,
शोभित करने गर्वोन्नत भाल ॥

तरुवर लिए कटार किसलयी,
देने को वीरों के हाथ।
झुके आ रहे थे अवनी पर,
पुलकित हो श्रद्धा के साथ ॥

सूर्यमुखी ले सुमन ढाल की,
कहती थी हे वीर जवान !
मेरी यह संचित निधि लेकर,
गरजो गरजो सिंह समान ॥

नवल जुही निज बाँह बढ़ाकर,
कहती है लो कलि का तीर।
लहरो लहरो अरि-मस्तक पर,
दूर करो माँ-विपदा चीर ॥

श्रद्धारत कुछ भक्तजनों से,
पाए गुरु मणि-कंगन भेट।
विहँस कहे अब वीर चाहिए,
जो अरि-मर्दन करें समेट ॥

जिसके सम्मुख पाप-अग्नि भी,
शीतल हो बन जावे फूल।
लौटे फिर से पासा अपना,
दाव पड़े अपने अनुकूल ॥

वैरी खग-कुल पर मड़रावें,
बनकर काल सदृश खगराज।
दम्भ-द्रोह के गहन विपिन में,
गरजें बनें मत्त मृगराज ॥

शोणित-सिन्धु-सन्तरण में वे,
बन जावें हनुमान समान।
लेकर केतु समुज्वल कर में,
पुरखों का आदर्श महान ॥

मुनि अगस्त्य को पुनः जगाकर,
ले पावन उनका वरदान।
अरि-मानस-रक्तोदधि पल में,
कर जावें वे हँसकर पान ॥

अब से भेंट न हो मणि-कंगन,
और न फूलों का उपहार।
अब से गुरुद्वारे में चमकें,
म्लेच्छ लहू के तृषित कटार ॥

भेंट चढ़ावें अब माताएँ,
अपने पाले वीर जवान।
जिनका पद-रज-विनत भाव में,
बने अकिंचन ले यम-दूत ॥

शक्ति - स्वरूपा कुल-ललनाएँ,
दे पति-कर में मुक्त कृपाण।
प्रभु से करें अर्चना प्रमुदित,
चमके माँ-सिन्दूर-निशान ॥

विजयी होकर लौटें प्रभुवर,
दमके मेरा अचल सुहाग।
पात-पात पर वनराजी के,
मुसकाए पूर्वज का त्याग ॥

बहनें मुदित सजाएँ अपने,
भाई के संगर का साज।
और कहें हे बन्धु, बचाना,
रण में अपने-पन की लाज ॥

विजय वैजयन्ती शुभ लेकर,
आना लौट बहन के धाम।
कभी न तिल भर भी पंकिल हो,
अपनी भगिनी का सद्मान ॥

रणभेरी बज उठी गुरू की,
क्षत्रियत्व का व्यापा तेज।
जिसके सम्मुख अनाचार का,
भाग्य हुआ धूमिल निस्तेज ॥

गाँव-गाँव में नगर-नगर में,
बनने लगे नित्य हथियार।
जिनके भैरव रव से कम्पित,
होती जाती मन्द बयार ॥

रोगी छोड़ रुग्ण शय्या को,
करने लगे वीर-रस-पान।
लगे साधने मूँछ ऐंठकर,
पानिपमय उन्मुक्त कृपाण ।।

अचल पंचनद का प्रदेश अब,
स्वाभिमान में हुआ प्रमत्त।
जिसकी रज प्रतिशोध-अग्नि से,
शिव-त्रिनेत्र सम था उत्तप्त ।।

होने लगे भेंट रातों दिन,
गुरुवर को नूतन हथियार।
अश्व सहित इस वीर भूमि के,
धीर शहीदी अश्व-सवार ।।

शस्त्रागार बने गुरुद्वारे,
ध्वजा बनी रणक्षेत्र-निशान।
हुए रौद्र-रस में मतवाले,
बच्चे, बूढ़े और जवान ।।

रौद्र रूप गुरुदेव हो गए,
गद्गद देख जाति को एक।
ऋद्धि-सिद्धि आशा-मण्डप में,
करने लगी मुदित अभिषेक ।।

बोले वे परितोष मंत्र से,
आज हुआ पूरा परितोष।
अब अचला का कण-कण प्रतिपल,
सुना रहा शिवमय जय-घोष ।।

जब मैं बाज लड़ा दूँ खग से,
तभी पिता का मुझ में अंश।
चलदल सम कम्पित हो जावे,
गर्वित म्लेच्छ-वंश-अवतंस ।।

चंचल बाज पवन सम बढ़ कर,
पकड़े द्विज को झपट समेट।
मेरे सिंह द्वेष के बन में,
करे पवन - मृग का आखेट ॥

ऊँचे शैल शिखर सम गुरु ने,
बनवाये प्रस्तरमय कोट।
जिनको देख कृतघ्न यवन के,
मर्मस्थल में पहुँची चोट ॥

कंघा, केश, कृपाण, कड़ा से,
हुआ सुशोभित माँ का भाल।
कनक किरण के अन्तराल में,
गूँजी रणधीरों की ताल ॥

प्रिय पाठक, याद रखिए पुस्तकें माँ सरस्वती का साक्षात् स्वरूप हैं। उनके साथ किसी भी प्रकार का असद् व्यवहार माँ वीणापाणि का प्रत्यक्ष अपमान है।

नवाँ सर्ग

दूर विपिन के अन्तराल में,
माया - तम - माला के बीच ।
आत्म-ज्ञान-सा अम्बालय था,
ऋद्धि-सिद्धि का सम्बल खींच ।।

वृद्ध तपस्वी-सा अनादि के;
चिन्तन में था कब से लीन ।
क्रूर काल के असह ज्वाल में,
भुन कर भी न हुआ वह दीन ।।

अंग-अंग छट चला प्रकृति का,
खा - खा करके वज्र - प्रहार ।
किन्तु न वह यतींद्र अम्बालय,
माना जीवन - पद में हार ।।

अब तक सीना तान खड़ा है,
लेकर गौरव का कंकाल ।
मुट्ठीभर पाहन का तन ले,
ठोंक रहा है यम से ताल ।।

उसका हृदय-प्रसून बढ़ा है,
वैभव के जीवन से सींच ।
भक्ति-सुधा जन-जन मानस में,
शत-शत कर से रहा उलीच ।।

उसके मर्म - स्थल में माता,
अम्बा की थी मूर्ति विशाल ।
जिसके रौद्र रूप का निर्जन
में फैला है भीषण - ज्वाल ।।

निर्निमेष प्रज्वलित पुतलियाँ,
मानो तप्त लौह का पिण्ड।
सुघर वक्ष पर राज रहा है,
एक सूत्र में मानव - मुण्ड ॥

लिये रक्त की लोहित आभा,
वह्नि अकम्पित शिखा समान ;
मुख बाहर निकली जिह्वा थी,
लेकर दैत्यराज की जान ॥

कर में सदा रक्त से रंजित,
नागिन सी थी मुक्त कटार।
लहराता नित खप्पर में था,
अघ-उर शोणित - पारावार ॥

भृकुटि वक्र थी माँ आर्या की,
अविरल आँसू - धारा देख।
चढ़ी त्योरियाँ थीं अम्बा की,
लिये प्रलय की अनमिट रेख ॥

खड़ी वेदिका पर देवी थी,
लिये युगों का शुचि इतिहास।
देख रही थी अपलक कब से,
परिवर्तन का क्रूर विलास ॥

गहन विपिन के कण-कण में था;
अष्टभुजी का व्याप्त प्रताप।
विमल पताका लिये बजाता,
रणभेरी था सतत प्रपात ॥

उसी अपर्णा के प्रांगण में,
लगा पुरोहित वंचक वात।
आर्य-धर्म-मानस पंकज पर,
करता था नित उल्का-पात ॥

अष्टभुजी के आराधान मिस;
लेकर गुरु से वैभव-राशि।
जगा रहा था यज्ञ अहोनिश,
हून हून घो - साकल - राशि ।।

भक्ति न उसकी थी दुर्गा में,
मानस में था तस्कर - भाव।
गुरुवर की श्रद्धा पाने को,
चला रहा था यज्ञ सचाव !।

समझ चुके थे अन्तर्यामी,
गुरुवर उसके मन का भाव।
रहे धर्म में श्रद्धा सबको,
इससे करते रहे छिपाव ।।

बीत गया वत्सर पर चंडी,
रंच मात्र भी हुई न तुष्ट।
कथित दिवस पहुँचे गुरु वन में,
माँ को करने को सन्तुष्ट ।।

जंगल भी बस गया नगर सा,
देकर आर्य जनों को ठाँव।
पात-पात पर लगा बिहँसने,
श्रद्धा सिंचित कोमल भाव ।।

आशा का असीम-सागर भी.
लगा नचाने मन का मीन।
सजल कल्पना के पल्लव पर,
बिहँस रहा था भाव-प्रसून ।:

श्रद्धा का अथाह सागर भी,
लहराता उर मध्य ससीम।
जिसके ऊपर माँ अम्बा की,
पद-नख - ज्योत्स्ना रही असीम।

प्रवहमान था कौतूहल का,
सरस समीरण ले सन्देश।
आज चण्डिका धर्म-गुरू का,
साजेगी वीरों-सा भेष ॥

देकर कर में चन्द्रहास वे,
वतलाएँगी युक्ति अनेक।
जिनसे धर्म-धरा का फिर से,
होवेगा नूतन अभिषेक ॥

जिनसे गर्वोन्नत सिर होगा,
और जगेगा रण-उल्लास।
अरि-मद-उर के गर्म लहू से,
लिखा जायगा नव इतिहास ॥

वोले गुरु उस वंचक द्विज से,
लाओ माँ की मुक्त-कटार।
जिसको ले अरि-मद-मर्दन कर,
करूँ धर्म-भू का उद्धार ॥

द्विज अवाक् रह गया बात सुन,
लम्पटता हो गई विलीन।
रोम-रोम हो उठा प्रकम्पित,
खिला बदन हो चला मलीन ॥

चंचल गति में बात बनाकर,
शीघ्र बनाया यह व्यवधान।
माँ अम्बा अब माँग रही है,
वीर-पुत्र का नव बलिदान ॥

बात अटपटी सुनकर गुरु का,
यज्ञ-अनल-सा चमका भाल।
धर्म-क्षेत्र में देख छद्म यह,
नेत्र हुए शोणित सम लाल ॥

खड्ग खींचकर वीर-भाव में,
खड़े हो गए सीना तान।
बोले, 'तुम-सा कौन मिलेगा,
पावन जिसका हो बलिदान ॥'

भय से व्याकुल होकर वह द्विज,
लगा चूमने गुरु का पाँव।
बोला करुणा-स्वर से पूरित,
त्याग हृदय का छद्म-दुराव ॥

"प्रभो ! रहूँगा जीवन भर मैं,
बना आपके पद का दास।
क्षमा करें अब से होवेगा,
धर्म-धाम मेरा आवास ॥"

गुरु ने कहा, 'विप्रकुल के हो,
और तुम्हारा यह कर्तव्य !
क्या यह जाति लगाकर चन्दन,
देती है ऐसा मन्तव्य ?

नहीं देखते राहु सदृश अरि,
चढ़े आ रहे जीभ पसार ?
बधिर हो रहीं क्लान्त दिशाएँ,
सुनकर स्वजनों की चीत्कार ॥

हम सबके सम्मुख बहनों का,
धुलता जाता अचल सुहाग।
खेल रहे हैं रिपु अचला के,
लज्जा से हँस-हँसकर फाग ॥

माताओं के अंक मध्य हैं,
कटते जाते शिशु नादान।
और इधर हमलोग लड़ रहे,
आपस में नित श्वान समान ॥

भला कभी इस पथ से होगा,
आर्य-जाति का नव उत्थान।
लिखते हैं रिपु गर्म लहू से,
प्रतिदिन कलमा और कुरान ॥

खिसक गया द्विज कम्पित पग से,
सुन न सका अन्तिम आख्यान।
गुरु पहुँचे देवी के सम्मुख,
लेकर अपना मुक्त कृपाण ॥

माँ वरदायिनि विहँसो फिर से,
आने दो वह पर्व महान।
जब तेरे पद पर होवेगा,
लाखों-रिपु-सिर का बलिदान ॥

नहीं भरेगा एक शीश के,
शोणित से खप्पर का पेट।
करता है उदरस्थ सदा वह,
लोहित-सिंधु असंख्य समेट,

नर-मुण्डों की माला जननी,
युग-युग की हो गई मलीन।
पुनः पिन्हाऊँगा नव माला,
रिपु-सिर संगर में मैं बीन ॥

प्रतिमा विहँस उठी अम्बा की,
सुन सपूत - वीरोचित बात।
मख ज्वाला-प्रज्वलित हो उठी,
हुई समाहित उर की बात ॥

दिव्य ज्योति फैली मण्डप में,
दुगुनी चमक उठी तलवार।
मानो शक्ति मिली गुरुवर को,
इष्ट - स्वरूपा हृदय पसार ॥

करके देवी का अभिवादन,
आर्य गुरू समाज के बीच।
मानो शक्ति भुजा पर बैठी,
आती हो श्रद्धावश खींच ।।

जन-जन की आशा का पल्लव,
पुष्पित हुआ दिगन्त - दिगन्त ।
पा माँ-शिवा-मधुर-मधु-चुम्बन,
शिशु सा बिहँसा धर्म-वसन्त ।।

सफल कामना का रत्नाकर,
बढ़ा चूमने को आकाश।
सत्य शिखर के शिवमय ध्वज पर,
लहराया लावण्य - प्रकाश ।।

प्रज्ञा-नभ-आह्लाद-घटा लख,
थिरक उठा मन-मोर समोद।
पात-पात पर लगा राजने,
सौरभ से मिल नवल प्रमोद ।।

बोले गुरुवर वीर भाव में,
अम्बा की यह है तलवार।
अरि-रक्तोदधि पर बल-नौका,
के खेने की है पतवार ।।

चलते समय भवानी ने यह,
हमें दिया है नव वरदान।
जिसको शिरोधार्य कर करके,
करना है माँ का सम्मान ।।

करो कूवते बाजू पर ही,
संकट में प्रतिपल विश्वास।
वही कर्मयोगी पाता है,
मेरा शिवमय सत्य प्रकाश ।।

ऋद्धि-सिद्धियाँ चेरी बन कर,
सदा चूमतीं उसके पाँव।
स्वर्गलोक में सत्यासन पर,
उसको मिलता सुखद सुठाँव ।।

सिन्धु मार्ग से उसके हट कर,
सभय पकड़ता सीमित कूल।
गिरिवर झुककर विनत भाव से,
लेता उसके पद की धूल ।।

सुन कर गुरुवर से दुर्गा का,
मिला हुआ नूतन वरदान।
सब में बिहँसा वीर-भाव से,
सज्जित अपनेपन का ज्ञान ।।

जन-जन को विश्वास हो गया,
यह है शिवा - प्रदत्त कटार।
जिसके बल पर धर्म-गुरू हैं,
करने चले धर्म उद्धार ।।

जय जय जय माँ सर्वमंगला,
रखना अपने शिशु का ध्यान।
तमसावृत इस अगम जगत में,
देना सत्य - धर्म का ज्ञान ।।

गूँजी प्रतिध्वनि नभ-मण्डप में,
दिग्दिगन्त गाये जय-गान।
एक-एक कर आर्य-जनों ने,
लिया यज्ञ का भस्म महान ।।

•

दसवाँ सर्ग

नये वर्ष का पर्व मनाने,
आया चैत महीना।
शिशिर-शरों से व्यथित बदन पर,
चमका सुखद पसीना॥

उड़ने लगा दिवस-खग नभ में,
पूरा पर फैलाये।
दिन-मणि-मृदु-अनुभूति-सदृश,
निज नवल विभूति बिछाये॥

अचला के अनुराग निलय से,
जागा प्रात सलोना।
जिसके हास प्रकाश-लास से,
विहँसा कोना - कोना॥

उड़ने लगे विहंग पंख पर
सौरभ भार सँभाले।
ढुरकी सुखद बयार सरस,
पछुवा की धवल ध्वजा ले॥

भागा विरस विरोध व्यथा का,
देख सुहास सुमन का।
जागा नवल प्रवाल सुहावन,
सरसी के शुचि मन का॥

भोला स्नेह अदेह भाव का,
लहराया जल - थल पर।
मंजुल हास अथिर शाद्वल का,
मुसकाया दल - दल पर॥

लिये हृदय कमनीय हार,
कचनार हँसा वन - वन में।
किये प्रचुर श्रृङ्गार बसा,
मधवा मादक मन - मन में ।।

अमराई नत - वदना सी,
पिंगला परम मतवाली।
देख रही थी प्रिय वसन्त का
पथ भर कर मधु प्याली ।।

चंचल चंचरीक चुम्बन ले,
मड़राता कलियों में।
वशीकरण का मन्त्र सुनाता,
सौख्य स्नेह गलियों में ।।

देवलोक की देव परी - सी,
अभिदर्शिता तितलियाँ।
वन उपवन में दिखलाती थीं,
नाच - नाच रँग - रलियाँ ।।

धरा धन्य थी, धन्य गगन था,
धन्य जगत - निर्माता।
जो अदृश्य इस शून्य भीत पर,
नाना चित्र बनाता ।।

जिसकी दीर्घ बाँह पर बैठी,
ऋतुएँ व्यजन डुलातीं।
नियति नटी माया के पट पर,
इन्द्रजाल दिखलातीं ।।

ऐसे सुखद समय में जब थी,
प्रकृति - वधू उमगाती।
सद्य - सुमन के हारों से,
रच - रच श्रृङ्गार सजाती ।।

पलक-पाँवड़े पात-पात के
पथ पर मुदित बिछाती।
भीतर के आह्लाद, उमंगें,
दूर्वा पर मुसकातीं ।।

अमरलोक के नन्दन-सी थी
वनरानी मदमाती।
जड़-चेतन को नई चेतना
का सन्देश सुनाती ।।

घूमा यह निदेश गुरु का,
वरदान सदृश सुखकारी।
अमृतसर में वैशाखी का,
अर्चन हो इस बारी ।।

सुन कर यह निदेश गुरु का जब,
गाँव - गाँव लहराया।
श्रद्धा - सुमन - हार से अपने,
उर का भवन सजाया ।।

कथित दिवस उपहार लिये,
सारी जमात जुट आई।
मनो स्वर्ग की हृदय-मोहिनी
समा भूमि पर छायी ।।

धर्म - धाम के नव प्रांगण में,
तना वितान विभामय।
नन्दन वन के कान्त कुसुम सा,
हास - विलास - प्रभामय ।।

क्या यह पुण्य-प्रताप स्वर्ग से,
भू पर उतर रहा है!
या यह सत्य असद्-भंजन कर,
द्विगुणित निखर रहा है ।।

या यह अन्तस् तमस् अजिर में,
दीपक दमक रहा है।
अमा-अंक में असित विमज्जित,
विधु ही चमक रहा है॥

या अनर्थ से त्रसित धरा का,
धर्म स्वपंख पसारे।
अमर लोक को चला जा रहा
है दुख से मन मारे॥

या अधर्म से घोर-सिन्धु ही,
सिर को धून रहा है।
जिसका शुभ्र अथिर फेनिल
अम्बर को चूम रहा है॥

करती हुई विकल्प स्वर्ग की
परियाँ घबराती थीं।
चकित दृष्टि को मृत्युलोक के
तन पर दौड़ाती थीं॥

गुरु ने तम्बू के भीतर ला,
पाँच अजा-सुत बाँधा।
धर्म-कसौटी पर स्वदेश के,
पुत्र-स्वर्ण को साधा॥

इस रहस्य से वह जमात,
बिलकुल अनभिज्ञ बनी थी।
नीरवता - तोरण - प्रांगण में,
छाई हुई घनी थी॥

केवल मन कल्पना - लता पर,
प्रतिपल घूम रहा था।
विकसित नव अनुभाव-सुमन को,
प्रतिपल चूम रहा था॥

बिछा पलक पाँवड़ा,
वहीं उस श्रद्धारता थली का।
देख रही थी पथ गुरु का,
मानस-सर-मुदित-कली का ॥

ओज-तेज के नव प्रतीक से,
रौद्र - रूप मतवाले।
बाल गयन्द-सदृश उन्नत तन,
अजित लोक - उजियाले ॥

कर विचूर्ण बलमयी भुजा से,
ईति - भीति का अम्बर।
निर्भय झूम रहा था भु-पर,
कर उदरस्थ बवंडर ॥

वज्र - कपाट सदृश दृढ़ थी,
गुरुवर की चौड़ी छाती।
जिसमें अभय सुरक्षित थी
इस धरा - धर्म की थाती ॥

शिरस्त्राण सम वीर - शीश पर,
पगड़ी राज रही थी।
मानो वीर-प्रसूता रणहित,
सुत को साज रही थी ॥

वज्र पीठ पर तूण काल सम,
शर से भरा हुआ था।
अक्षय त्रिकाल पान कर पानी,
जिसका हरा हुआ था ॥

भारत की गौरव-जननी थी,
गुरु की मुक्त कृपाणी।
जिसमें हुई समागत थी,
ले धर्म - ध्वजा कल्याणी ॥

वहीं धर्म की नाव लिये,
प्रज्ञा - पतवार सँभाले।
हुए समागत सभा बीच में,
गुरु ज्वाला - माला ले ॥

बढ़ा कामना का अथाह,
शत - शत बाँहें फैलाए।
श्रद्धारता सीकरावलि,
स्वर्णाभ अजस्र बिछाए ॥

बुदबुदमयो सचाव अंक में,
प्रमुदित भर लेने को।
अपने भाव-सुमन से गुरु की,
अंजलि भर देने को ॥

मुक्त कृपाण लिये कर में गुरु,
वीर - भाव में बोले।
घोर तमिस्रा से आवृत,
जन - जन - आशा - पट खोले ॥

"आज धर्म की बलिवेदी पर,
करनी है कुर्बानी।
पाँच शीश की भिक्षा मेरी,
है कोई सिरदानी ॥

जिनका सद्य रक्त पीकर,
जग जावे यह कल्याणी।
कर विदीर्ण अरि - तमोतोम,
दिखलाये पथ रुद्राणी।

जिस पर निर्भय बढ़े वीर,
पाषाण - हृदय दहलावे।
शोणित-सिन्धु - सन्तरण कर,
निज - धर्म - केतु फहरावे ॥

है कोई माँ का सपूत तो,
बढ़कर नाम लिखावे।
हतप्रभ निज स्वदेश का गौरव,
सूर्य - सदृश चमकावे ।।

निष्प्रभ - सी हो गई सभा,
सुन गुरु - वीरोचित वाणी।
सोच रही थी कौन पिलावेगा,
पूर्वज को पानी ?

लगे देखने दायें – बायें,
कातर शीश झुकाए।
कौन अमोल जान अपनी,
पानी की तरह बहाए ।।

जननी, जनक, कलत्र, सुतों का,
कौन सहायक होगा ?
कौन पूर्वजों के संचित,
धन का भी भागी होगा ?

बोले गुरुवर – 'बन्धु जनो,
भूली उत्सर्ग कहानी।
उँगली कटती परीक्षार्थ निज
चन्द्रहास का पानी ।।

बोल उठा दीवान बीच बढ़,
दयाराम सिर – दानी।
जिसके मानस - मन्दिर में,
रक्षित था पूर्वज - पानी ।।

जय गुरुदेव ! शीश यह मेरा,
अर्पित पूज्य - चरण पर।
मुसकाये उदयाचल के,
रक्ताभ अनिन्द्य वरण पर ।।

साथ गुरू के दयाराम
आए तम्बू के भीतर।
जहाँ बँधे थे अजा-पुत्र,
रक्खा कृपाण था विषधर॥

रक्खे दयाराम को रक्षित,
संचित-वस्त्र-निलय में।
भय से कम्पित थी जमात,
गुरुवर के क्रोध-प्रलय में॥

एक बार में बकरे का सिर,
गिरा धम्म की ध्वनि में।
दयाराम का शीश गिरा,
विश्वास हुआ जन-जन में॥

हुई प्रकम्पित और सभा,
जब बही रक्त की नाली।
जिसके ऊपर बिहँस रही थी,
सद्य रक्त की लाली॥

पुनः रक्त-रंजित कटार ले,
आए गुरुवर बाहर।
जिनके रौद्र रूप को लखकर,
कँप जाते नर-नाहर॥

मुझे दूसरा शीश चाहिए,
है कोई अभिमानी ?
जिसका रश्मिरथी से लिखने,
लगे स्वदेश कहानी॥

धर्मा जाट उठे जिनका था
धर्म-क्षेत्र का बाना।
मृत्यु-वह्नि-प्रज्वलित शिखा पर,
बन बैठे परवाना॥

गुरु के साथ गए बलि-भू पर,
निर्जन में एकाकी।
आई दिव्य सवारी सम्मुख,
शिवा शीतला माँ की ॥

चली शीश पर उसके गुरु की,
प्यासी मुक्त कृपाणी।
मिटी धरा से अजा-पुत्र की,
जीवन - राम - कहानी ॥

बैठे धर्मा अभय सुरक्षित
उस तम्बू के भीतर।
गुरु जी आए फिर बाहर
लेकर तलवार लहू-तर ॥

बढ़ी दूगुने साहस से,
ताजे शोणित की धारा।
जन-जन के भय का सागर,
लहराया तोड़ किनारा ॥

भाई मुहकम, छीपा भाई,
साहब चन्द दिवाना।
भाई हिम्मत हिम्मत करके,
बन बैठे परवाना ॥

माता के इन वीर-सुतों ने,
अपना शीश उठाया।
और गुरू के पद-पंकज पर,
प्रमुदित अभय चढ़ाया ॥

इनके बदले शेष अजा का,
शीश उन्होंने काटा।
पाँच सपूतों को नहलाकर,
नये वस्त्र से साजा ॥

नये शस्त्र धारण करवाकर,
और साथ में लेकर।
हुए समागत वीर-परीक्षा,
जन-जन की वे लेकर ।।

बैठे गुरु जी वीरासन पर,
कहते ग्रन्थ-कहानी।
खड़े हो गए पार्श्व-भूमि पर,
वे पाँचों सिरदानी ।।

पढ़-पढ़कर जप-जाप सवैया,
गुरु जी खड्ग घुमाते।
जन-जन को गुरु की बानी का,
उज्ज्वल तत्व बताते ।।

इसी बीच गुरु-पत्नी माता,
साहब कौर भवानी।
डाल बतासा अमृतमय
कर दी सम्मुख का पानी ।।

पुनः कृपाण डालकर गुरु ने,
जल को अमिय बनाया।
एक पात्र में पाँच सपूतों,
को दे मुदित पिलाया ।।

देकर सिंह-उपाधि समुज्वल,
बोले हे रणधीरो !
अब से जात-पाँत को भूलो,
बन्धु-बन्धु हो शूरो ।।

अब से सबके एक पिता हैं,
गुरु गोविन्द व्रत-धारी।
साहब कौर जगद्वन्द्या हैं,
सब की एक मतारी ।।

अब से सिंह बन गए वीरो !
रखना केहरि - बाना ।
लेकर जान हथेली पर,
गुरुपन की लाज बचाना ।।

– कंघा, केश, कृपाण, कड़ा,
कच्छा से केश सजाना ।
वाहि गुरु जी का जय घोष,
प्रचण्ड अखण्ड सुनाना ।।

और न अपर धर्म के देवों
को भी शीश झुकाना ।
वीर ! फकीरों के पद पर तुम,
कभी न फूल चढ़ाना ।।

एक अकाल अजान स्वयंभू
का निर्मल गुण गाना ।
इसके ही पावन मन्दिर में,
भाव-प्रसून चढ़ाना ।।

पुनः धर्म-गुरु हाथ जोड़कर,
उन पाँचों से बोले ।
धर्म- कपाट कल्पना-कर से,
विनत भाव में खोले ।।

आप प्रथम मिलकर हमको भी,
अमृत-पान करावें ।
और बनाकर शिष्य मुझे,
अपना यह ग्रन्थ पढ़ावें ।।

सुनकर गुरु की प्रेम-भरी,
अनजान अटपटी वाणी ।
डूब गए कौतूहल-सर में,
वे पाँचों सिरदानी ।।

किसी धर्म में नहीं बना,
ऐसा आदर्श निराला।
कि हो जावे स्वयं शिष्य,
नव पंथ चलानेवाला ॥

बोले हे गुरुदेव ! आपने,
अमृत - पान कराया।
अन्तस तमस मिटाकर उसमें,
प्रज्ञा - दीप जलाया ॥

जिसकी चरण-धूल सिर पर ले
मैं निज भाग्य सराहूँ।
उस गुरु का कैसे गुरु बन कर,
अमृत - पान कराऊँ ॥

गुरु का शिवमय मृदुल हास,
संशय का भाव मिटाया,।
कण-कण में उस नव विभूति का
आत्म - तेज मुसकाया ॥

बोले, 'इस खालसा पंथ के,
आप पाँच हैं स्वामी।
मेरे पंचतत्व से निर्मित;
तन के भी हैं स्वामी ॥

इसीलिए हमको अमृत दे,
अब से सिक्ख बनावें।
और बने इस नये पंथ को
विमल प्रकाश दिखावें ॥

विनत भाव से उन पाँचों ने,
अमृत - पान कराया।
तब से गुरु गोविन्दसिंह,
गुरुवर का नाम कहाया ॥

बैठी थी जितनी जमात,
सबको अमृत पिलवाये।
सबके जन्मजात नामों में,
सिंह नाम जुटवाये ॥

सब में जागी नई चेतना,
त्याग - भाव मुसकाया।
पत्ते-पत्ते पर स्वदेश का
नया पंथ लहराया ॥

मिटा हृदय का कलुषित अंतर,
भ्रातृ - भाव अब जागा।
जात-पाँत का असद् भाव भी,
उदासीन हो भागा ॥

बने पाँच जत्थे सिक्खों के,
पी अमृत भयहारी।
पाँचों पाँच दिशा में निकले,
करके नव तैयारी ॥

घूम - घूम कर लगे जगाने,
सब में नयी जवानी।
अमृत पिला-पिला सिखलाते,
नए पंथ की बानी ॥

कुछ ही दिन में नया पंथ,
हो गया अतुल बलशाली।
लगा नाचने जन-मन-सर में,
बन कर मृदुल मराली ॥

यवन-वंश-अवतंस सुना जब
इसकी नई कहानी।
तब इसका विनाश करने को,
ठान लिया अभिमानी ॥

ग्यारहवाँ सर्ग

बिदा हुई विभावरी विरह-व्यथा-समाकुला,
प्रभा-सजल-सुमन-नयन-नियति-नियम-बँधा खुला।
भगा स्वपन नक्षत्र साथ ज्ञान-अन्तराल से,
बहा पवन अमल-अमिय प्रफुल्ल ताल-ताल से ॥

जगा प्रभात साथ ले विकास आर्य-देश का,
हँसा प्रकाश सत्यरूप वीर-भूमि वेश का।
चलीं प्रभात-रश्मियाँ धवल-ध्वजा सँवारती,
अजस्र स्नेह ज्योति-धार प्यार से सुधारती ॥

लसे निकुंज-कुंज मधु-गुरुत्व को सँभालते,
हँसे प्रशान्त सत्य-सर प्रभुत्व को निवारते।
बढ़ा सुमेरु स्वर्ण-सा सचाव व्योम चूमने,
लगा प्रभात ज्योति-साथ मस्त मग्न झूमने ॥

खिली कली चले अली थली थली गली गली,
बढ़ी उषा यशस्विनी पयस्विनी गले मिली।
प्रमत्त हो विहंग चाव-भाव की उमंग में,
खेलने लगे उछाह-सिन्धु की तरंग में ॥

कढ़े कृषक स्वगेह से अदेह स्वप्न साधने,
असीम भाव-धार पर स्वकर्म-सेतु बाँधने।
चली प्रिया लिये दीया सतीत्व - ज्योति-पूरिता,
स्वनाथ स्नेह-भक्ति के अनिन्द्य भाव – भूरिता ॥

हँसा गृहस्थ हास-स्नेह पुण्यमय प्रकाशमय,
खुला परम तपः निलय विरागमय विलासमय।
अकूल स्नेह-सिन्धु-सा अकाम मस्त झूमता,
ससीम हो उतर पड़ा तृणालि - शीश चूमता ॥

धन्य हो गई धरा हरा वसन सिहर उठा,
प्रसन्न पात-पात पर विजय-ध्वज फहर उठा।
लगे ललाम धूप-छाँह खेलने प्रतान में,
चला पतंग खेलने प्रबुद्ध आसमान में ॥

थिरक उठी बिहँस उठी विभामयी वसुन्धरा,
फहर उठा लहर उठा नया वसन हरा हरा।
चहक उठे फुदक उठे विहँग विभोर-भोर में,
धुल चला अमिय अमल अतोल लोल शोर में ॥

महाविभूति देश की उछाह-सिन्धु में नहा,
अमन्द ग्रन्थ-छन्द-मधु प्रशस्त पन्थ पर बहा।
बता रही कि आज देश का नया विहान है;
करो सहर्ष अर्चना नया - नया विधान है ॥

जगा स्वधर्म-पुत्र आज मस्त धर्म-धाम से,
लसा स्वकर्म आर्य-देश-पूत स्वाभिमान से।
प्रसन्न पात - पात से यही पुकार आ रही;
कि शीश-दान के लिये जयी ! शिवा बुला रही ॥

किसलिये पले कि जब परन्तपः दहाड़ता,
सगर्व वक्ष तान, गन्थ-पत्र मत्त फाड़ता।
झुका रहा स्वधर्म की ध्वजा कुरान बाँचता,
पड़ा अनर्थ बाँह में विकल पुराण हाँफता ॥

एक दीप चल रहा अभी तिमिर अथाह में,
प्रदीप एक पल रहा कलह-प्रवह-प्रवाह में।
करो नवीन अर्चना उसी अचल सुठाँव में,
धरो नवीन जल्पना अमर अचल सुभाव में ॥

प्रलय-पवन-प्रवाह में वहीं बना गिरीश है,
असत्य सृष्टि सिन्धु में वही बना सतीश है।
खड़ी विभा लिये हुए दिनेश-दीप आरती,
सजल पलक बिछा - बिछा सुपंथ है निहारती ॥

इसी उछाह-छाँह में जुटे स्वदेश साहसी,
लसी छटा-घटा अजस्र स्नेह के प्रवाह सी।
उठा स्वधर्म का किशोर ले हिलोर सिन्धु सा,
बरस पड़ा सुधा मुखेन्दु से अशेष इन्दु सा॥

उठो जवान! आज है बिहान कुछ जता रहा,
स्वदेश की दशा मलय समीर है बता रहा।
कि आज देश-क्षत्रियत्व हो अशक्त सो रहा,
गुरुत्व आर्य-धाम का जहान बीच खो रहा॥

न एक इंच भूमि है जो स्वत्व सत्य का पले,
न एक इंच भूमि है जो दीप धर्म का जले।
सभी स्वदेश के जवान स्वाभिमान छोड़ कर,
निहारते मुगल - बदन अधीर हाथ जोड़कर॥

व्रती स्वधर्म का प्रखर दिनेश-शेष हो गया,
यती अनल असत्य मोह राख बीच सो गया।
सती किसे कहूँ कि जब स्वदेश की दुलारियाँ,
धुला रहीं सुहाग त्याग स्वत्व की कटारियाँ॥

न आज बन्धु खेलते हैं फाग कूद आग में,
न आज बन्धु खेलते हैं स्वार्थ-राग-त्याग में।
पता नहीं लिखा है क्या स्वदेश-भव्य-भाल में,
जला समाज जा रहा जले-अनल-कराल में॥

भला स्वजाति के जवान भूल पूर्व मान को;
सजा रहे यवन - भवन भुला स्वतेज शान को।
झुका स्वशीश श्वान सम अपूत पाँव चूमते,
धुला स्ववेश वीर नाम मग्न मस्त झूमते॥

न ध्यान आर्य-धाम का, न ध्यान स्वाभिमान का,
न ध्यान क्षत्रियत्व का, न ध्यान सिंह नाम का।
सजा स्वजाति की सती की लाज की वे डोलियाँ,
उठा स्वकन्ध पर सुना सुना अशुभ कुबोलियाँ॥

सजा रहे मदान्ध हो वे म्लेक्छराज की सभा,
भला सपूत ! किस तरह जगे स्वधर्म की प्रभा ।
आज से शपथ करो स्वधर्म ही स्वप्राण है,
अगम अनादि सृष्टि का यही अमल सुदान है ॥

पहन स्वकर्म का कवच अनीति को मरोड़ दो,
वहन करो शुभास्त्र को असत्य अस्त्र तोड़ दो ।
सचेत हो जवान ! आसमान काँपने लगे,
अचेत हो परन्तपः स्वपंथ नापने लगे ॥

बने हिमाद्रि - वक्ष पर सुमार्ग भी प्रयाण का,
उड़े ध्वजा स्वदेश के नवीन स्वाभिमान का ।
पदस्थ हो प्रचण्ड काल युग्म हाथ जोड़कर,
करस्थ हो अभिष्ट धृष्ट स्वाभिमान छोड़कर ॥

उतर गगन मगन जयी ! स्ववीर पाँव चूम ले,
अगम असाध्य साध्य हो स्वबाहु बाहु झूम ले ।
खिले सुकीर्ति का सुमन धवल गिरीश भाल पर,
मिले स्वशौर्य भी लिखा अनन्त अन्तराल पर ॥

अभी धधक रहीं जयी ! मेवाड़ की कटारियाँ,
अभी भभक रहीं जयी ! सतीत्व की दुलारियाँ ।
अभी चमक रही जयी ! प्रताप की कहानियाँ,
अभी दमक रही जयी ! अँगार सी जवानियाँ ॥

सूर्य-चन्द्र वंश के सपूत ! तुम प्रकाश हो,
असत्य मोह के लिये बने प्रलय - विलास हो ।
फिरे जो वक्र दृष्टि तो नक्षत्र छूटकर गिरे,
हँसे जो रौद्र रूप तो पतंग टूट कर गिरे ॥

जवान ! राम-कृष्ण के पवित्र - रक्त - रूप हो,
महान चन्द्रगुप्त औ अशोक के स्वरूप हो ।
चढ़ो अधर्म वक्ष पर प्रहार रोकते हुए,
चढ़ो करार-धार पर पहाड़ रोकते हुए ॥

वही सबूत है जयी ! जो मौत तुच्छ मानता,
असीम आग-पाश को जो बाँह बीच बाँधता।
ससीम भाव सिन्धु पर परार्थ पर बढ़े चलो,
स्वदाव जान का लगा कराल-ज्वाल पर चढ़ो ॥

पड़े जो पाँव भूमि पर तो वालि-पूत सा बने,
बढ़े जो पूत-भाव तो समीर-पूत सा बने।
पिये जो दूध मातु का तो पार्थ-पूत सा बने,
जिये तो धर्म भूमि पर तो अर्चि-पूत सा बने ॥

क्षण विराम विश्व में कलंकहीन श्रेय है,
युग विराग सकलंक सृष्टि में अश्रेय है।
न एक पग रुको कहीं खगोल-लोल-व्यास पर,
न एक पग झुको कहीं अजान-मृत्यु हास पर॥

बनो अमल विचार फूल के निबद्ध माल तुम,
बनो अनर्थ पाप का जहान बीच काल तुम।
करो जवान ! शीश दान की नवीन योजना,
हँसे प्रशान्त नील वर्ण में स्वकर्म साधना ॥

पड़ी स्वधर्म नाव है सपूत - तुंग बीच में,
खड़ी स्वधर्म धेनु है अशक्त पाप - कीच में।
बढ़ो अगस्त्य सा अनर्थ सिन्धु सोख लो,
स्वबाहु पर कठोर वज्र सा प्रहार रोक लो ॥

लवा समझ परन्तपः प्रमत्त बाज सा बढ़ो,
तवा समान वक्ष तान अरि गुमान पर चढ़ो।
हँसो जयी ! यशः शरीर भाग्य बीच राजता,
पकड़ कराल काल व्योम बीच भाँजता ॥

नहीं हैं देव रीझते प्रसून-नृत्य-गान से,
नहीं हैं देव रीझते अभुक्त - व्रत - विधान से।
नहीं हैं देव रीझते समाधि और ध्यान से,
सही है देव रीझते हैं वीर - युद्ध - गान से ॥

कला-कृपाण-धार की कभी न म्यान में लसी,
प्रभा न ज्ञान की कभी सुरंग-मोह में हँसी।
कभी न शौर्य खेलता कपूत-मीचु-बीच में,
कभी न धर्म का कमल हँसा अनीति-कीच में ॥

•

पुस्तक-व्यवहार में बरती गई आपकी यथेष्ट सावधानी पुस्तक को दीर्घकाल तक पाठकों की सेवा करने योग्य बनाये रख सकती है। अतः उसकी पूर्णतय सुरक्षा हेतु पूरी सजगता बरतें।

बारहवाँ सर्ग

कीर्ति और शूरता,
प्रशस्ति - भाव - भूरिता।
अनादि सृष्टि तारिणी,
कराल रूप धारिणी ॥

मनोज्ञ - लोक वासिनी,
शिवा स्वरूप हासिनी।
प्रशान्त में कुहेलती,
अनन्त मध्य खेलती ॥

हँसी विभा हुलास में,
लसी शिवा - विलास में।
चढ़ी सुरश्मि - यान पर,
बढ़ी विहंग - गान पर।

हिमाद्रि - शृङ्ग पर उतर,
मलय समीर में सिहर।
निहारने लगी सजल,
खिले प्रभात में कमल ॥

तरल - तरंग - लासमय,
सजल अजस्र हासमय।
प्रशान्त का उहार खोल,
लोल - वीचि - पंख तोल ॥

चाहती थी बढ़ चलूँ,
चाहती थी चढ़ चलूँ।
ईप्सितार्थ चूम लूँ,
शक्ति साथ झूम लूँ ॥

धरा धरे बिहान को,
जाति - स्वाभिमान को।
पूत - धर्म - धाम को,
धीर - सिन्धु - गान को ॥

शक्ति को दिखा रही,
भक्ति को जगा रही।
व्यष्टि को जगा रही,
सृष्टि को जगा रही ॥

भक्ति - भाव देख कर,
शक्ति - चाव देख कर।
शूरता बिहँस पड़ी,
शृङ्ग से उतर पड़ी ॥

चली प्रभा - सुढार पर,
अतुल्य - भाव - प्यार पर !
अगम्य पन्थ - गामिनी,
अदम्भ - मर्म - वासिनी ॥

बीर - मातु से मिली,
धीर - मातु से मिली।
मगन - प्रात - वात था,
प्रसन्न पात - पात था ॥

जगी नवीन कामना,
जगी नवीन साधना।
जगी नवीन भावना,
खगोल स्वर्ण सा बना ॥

जाग उठा पात पात,
जाग उठा गात गात।
शक्ति नाचने लगी,
भक्ति राजने लगी ॥

लुप्त हो गई अमा,
राजने लगी समा।
तेज चमचमा उठा,
भाव दमदमा उठा ॥

मातु - शुभ्र - अंक से,
कीर्तिमय मयंक से।
देश - भाग्य हँस पड़ा,
वेश - त्याग हँस पड़ा ॥

सिक्ख सिंह - पूत से,
सिक्ख काल - दूत से।
धर्म - धाम से कढ़े,
कर्म - पन्थ पर बढ़े ॥

एक धर्म - ज्ञान था,
एक स्वाभिमान था।
एक ही निशान था,
एक जाति - ज्ञान था ॥

एक वीर - वेश था,
एक ही निदेश था।
अग्नि - मार्ग पर बढ़ो,
काल - बक्ष पर चढ़ो ॥

कर्म - भाव - हार हो,
धर्म - नाव पार हो।
रक्त - सिन्धु सोख लो,
वज्र - वार रोक लो ॥

एक बार पूर्व मान,
एक बार पूर्व शान,
एक बार पूर्व गान,
एक बार पूर्व तान,

ताजमय लसे अभय,
राजमय लसे अभय ।
काजमय जगे अभय,
त्याग में पगे अभय ॥

वेद औ पुरान भी,
धनुष और बाण भी ।
एक साथ झूम लें,
पूर्व - तेज चूम लें ॥

लाज - केश - वेश की,
क्षत्रियत्व - तेज की ।
व्योम में लसे अभय,
फूल सा हँसे अभय ॥

कामधेनु हो अभय,
सामगान हो अभय ।
धर्मराज की सभा,
चूमने लगे विभा ॥

पवन जाल छेद कर,
नगन - माल भेद कर ।
बढ़े तुरंग नाचते,
अगम्य पन्थ लाँघते ॥

वज्र - टाप - मार से,
वेग के प्रहार से,
पग न भूमि पर धरें,
खग जमीन पर गिरें ॥

तड़ित कौंध से बढ़े,
विघ्न - वृक्ष पर चढ़े ।
गति न वायु में रही,
व्योम में उड़े जयी ॥

चित्रगुप्त हो विकल,
सोच मर्त्यलोक-दल,
मूँदने लगा बही,
स्वर्ग सी बनी मही ॥

टाप के प्रहार से,
रज उड़े पहाड़ से।
ढाँकने लगे गगन,
प्रेतिनी हुई मगन ॥

भानु-तेज मन्द हुआ,
काम-काज बन्द हुआ।
सान्ध्य-अर्चना जगी,
सान्ध्य-साधना पगी ॥

चले मतंग झूमते,
अनन्त अभ्र चूमते।
गिरि-शिखर लजा गया,
भूमि में समा गया ॥

चली अपार वाहिनी,
सुमेरु-शृङ्ग सी बनी।
काँपने लगी मही,
हाँफने लगी मही ॥

गुरुगोविन्द सामने,
धर्म-सेतु से बने।
सैन्य-दल बढ़ा रहे,
ग्रन्थ थे पढ़ा रहे ॥

नग्न खड्ग लासमय,
रक्त-सिन्धु हासमय।
भक्त - मन - विहासमय,
सत्यमय प्रकाशमय ॥

कालकूट पान कर,
काल - सा गुमान कर।
शेषनाग - सा बना,
स्वाभिमान से तना ॥

श्याम वाजि पर चढ़ा,
चण्ड-वायु पर बढ़ा।
व्योम को निहारता,
नाच विघ्न फाड़ता ॥

पीठ पर तुणीर था,
ढोठ काल-तीर था।
बढ़ा विपक्ष भेदने,
अनर्थ - पक्ष छेदने ॥

प्राण-साथ खेलने,
मौत को ढकेलने।
वज्र - वार रोकने,
मातु - ताप सोखने ॥

चली अनीकिनी प्रबल,
मार्ग भी हुआ विकल।
काँट-कर्श झाड़ियाँ,
पंथ की पहाड़ियाँ,

नम्र हाथ जोड़कर,
छद्म - भाव छोड़कर,
फूल - सी बिछीं कहीं,
धूल बन छिपीं कहीं ॥

नाग की दहाड़ सुन,
शीश भी पहाड़ धुन
काँपने लगे सदल,
हाँफने लगे उपल ॥

मार्ग के सरित-तड़ाग,
मोह - नींद त्वरित त्याग।
सोचने लगे सभय,
चला आ रहा प्रलय ?

ऊर्मि-अधर खोलकर,
पुलिन - बाँह तोलकर,
सोचते थे रोक लूँ,
समीर - तीर भोंक दूँ ॥

देख गुरु - तुरंग को,
धर्म - पूत - रंग को,
लाज से सकुच गये
वीर - भाव बुझ गये ॥

देख देव - पाँव को,
आर्य - धर्म - नाव को।
वक्ष पर चढ़ा लिये,
पूत - रज लगा लिये ॥

खोल आँख भाव से,
बोल उठे चाव से,
कि आज धर्म छा गया,
कि तीर्थराज आ गया ॥

धूलमय हुआ गगन,
ढीह से बने नगन।
छिप गये दिनेश भी,
दिवस - रात - भेद भी ॥

चक्रवाक भी समय,
छोड़कर मिथुन - प्रणय,
नीड़ से जुदा हुआ,
प्रेम से बिदा हुआ ॥

शम्भु - पूत - धाम को,
छोड़ दिवस काम को,
ले प्रसून घो - दीये,
भक्त लोग चल दिये ॥

भव्य - भाल - ज्ञान से,
राम - पूत - बाण से,
शक्ति के कृपाण से,
भक्ति के विहान से,

गुरुगोविन्द चल पड़े,
कोप से उबल पड़े ।
शोक - सिन्धु सोखने;
प्रखर - बयार रोकने ॥

देश - नौजवान को,
क्षत्रियत्व - शान को,
नींद से जगा - जगा,
उमोद में पगा - पगा,

बात थे बता रहे,
तात - ताप ला रहे ।
देश के जवान ! तुम,
धैर्य के विधान तुम !

व्योम - भूमि एक कर,
सूर्य - चाँद को पकड़,
भूमि पर उतार दो,
धर्म - नाव तार दो ॥

अग्नि - ज्वाल फूल - सा,
गिरि महान धूल - सा ।
मानकर बढ़े चलो,
शान पर चढ़े चलो ॥

सात सिन्धु सोख लो,
आसमान रोक लो।
अरि - प्रवाह फेर दो,
मृत्यु - द्वार घेर दो॥

सिंह - डाढ़ को पकड़,
शत्रु - चाह को जकड़,
हाथ से मरोड़ दो,
स्वर्ग - भूमि जोड़ दो॥

भेद - भाव भेद दो,
तुम अनीति छेद दो।
कर्म के पहाड़ पर,
धर्म की दहाड़ पर,

क्षण न तुम रुको कहीं,
क्षण न तुम झुको कहीं।
पवन - पूत सा बढ़ो,
बालि – पूत सा अड़ो॥

मौत की कुहेलियाँ,
शत्रु – तीर - गोलियाँ,
वायु सा पिये चलो,
धार पर जिये चलो॥

शत्रु की अनीकिनी,
मौत की सखी बनी,
रात की अड़ी हुई,
सामने खड़ी हुई॥

पवन – बेग से सबल,
आर्य – पूत – दूत - दल,
बाज से झपट पड़े,
शत्रु से लिपट पड़े॥

[बारहवाँ सर्ग

कृपा – कृपण – कृपाण से,
धनुष और बाण से,
मेदिनी प्रकम्पिता,
वीर – भाव – बन्दिता,

त्राहि – त्राहि कर उठी,
रक्त - धार बह उठी।
धूल का न था पता;
फूल का न था पता ॥

मातु का वसन हरा,
रुण्ड – मुण्ड से भरा।
अर्द्ध - मृत कराहते,
वीर गति पुकारते ॥

बाँह कट गई कहीं,
चाह मिट गई कहीं।
राह पट गई कहीं,
थाह लग गई कहीं ॥

बाजि बाजि से लड़े,
बाज बाज से लड़े।
मौत मौत से लड़ी,
जय ससंशया खड़ी ॥

गुरुगोविन्द काल से,
लंक – दाह - ज्वाल से,
शत्रु थे बिछा रहे,
वीरता जँचा रहे ॥

नग्न खड्ग राजता,
शत्रु – शीश – भाँजता,
धर्म – गर्त – पाटता,
कण्ठ - कण्ठ चाटता ॥

श्याम वाजि दौड़ कर,
शत्रु - शीश झौर कर,
भूमि से हो लापता,
व्योम में विराजता ॥

बोले सो निहाल की,
सत्त श्री अकाल की।
मंत्र था पढ़ा रहा,
क्रूरता मिटा रहा ॥

पाप - ताप - हारिणी,
रक्त में विहारिणी,
मुण्ड - मुण्ड खेलती,
विघ्न आप झेलती ॥

धर्म - शक्ति - चाव सी,
कर्म - भक्ति भाव सी;
शीश थी बिछा रही,
पार थी लगा रही ॥

आप नाच - नाच कर,
वीर - वेश साज कर,
कीर्ति थी हँसा रही,
मौत थी जगा रही ॥

वार टूट टूक कर,
अरि - गुमान को पकड़,
तीक्ष्ण दाँत से चबा,
शक्ति - भाव से दबा ॥

क्षण जमीन पर उतर,
रक्त - धार में निखर,
पाठ थी पढ़ा रही,
मुण्ड थी चढ़ा रही ॥

खून - खून हो गया,
रोस दून हो गया।
तोष का न था पता,
बन्धु - भाव लापता ॥

गोलियाँ सनक रहीं,
बोलियाँ धधक रहीं।
बर्छियाँ चमक रहीं,
अन्त का पता नहीं ॥

कौन है कि रोक ले,
रोष - ज्वार सोख ले।
मृत्यु - द्वार फेर दे,
विलोम भाग्य घेर दे ॥

फूल सा बदन कहाँ ?
फूल पर शयन कहाँ ?
फूल मौत है बना,
फूल रक्त से सना ॥

एक ओर धर्म है,
एक ओर कर्म है।
एक देश के लिये,
एक वेश के लिये,

नौजवान हूनता,
आसमान भूनता।
क्या रहस्य है छिपा,
सोच व्योम है कँपा ॥

एक साथ मिल गले,
रक्त - कीच में मिले,
शव - स्वरूप सो रहे,
सोच देव रो रहे ॥

शस्त्र अट्टहास में,
मृत्यु के विलास में,
न वेद की ऋचा हँसी,
न शान्ति की सुधा लसी ॥

जग - विरोध है अनादि,
द्रोण - कर्ण पार्थ आदि,
वीर भी चले गए,
द्वेष से छले गए ॥

चेत न सका मनुज,
देव से हुआ दनुज ।
क्या भविष्य का पता,
जब वही रही खता ॥

देख - देख यह दशा,
धर्म - भूमि - दुर्दशा,
रवि विशोकमय चले,
क्लान्त सिन्धु में ढले ॥

गुरु गोविन्द की विजय,
गुरु गोविन्द की विजय,
खग विभोर गा उठे,
हर्ष में नहा उठे ॥

नाच उठे नौजवान,
गूँज उठा कीर्ति - गान ।
हर्ष - बिन्दु पात - पात,
मातृ - भूमि - गात - गात ॥

शान्तिमय छलक उठा,
क्रान्तिमय झलक उठा ।
कामना हुई सफल,
साधना हुई सफल ॥

पूर्व - दिशा चाव से,
अपूर्व - भक्ति - भाव से,
चन्द्र - पदक हाथ ले,
सुधा - प्रवाह साथ ले,

स्वर्ग से उतर पड़ी,
ओस सी निखर पड़ी।
प्रेतिनी हुई मगन,
छोड़कर चली गगन ॥

शव सरूप पूत थे,
पड़े हुए अछूत थे।
श्री - विहीन थे बदन,
चाँदनी बनी कफन ॥

तेरहवाँ सर्ग

प्रकृति-पत्र पर स्वर्ण चढ़ाता चला प्रसन्न प्रभात,
जड़-चेतन के मानस-सर में हँसा भाव-जलजात।
कोयल पंचम स्वर में छेड़ी विश्व - मोहिनी तान,
प्रकृतासन पर सजग हुआ अपना गर्वित अभिमान ॥

मलय-समीरण चला प्रफुल्लित-गन्ध-निकेतन खोल,
चिड़ियाँ उतर पड़ीं अवनी पर बोल प्रभाती बोल।
मणिमय लतिका की छाया में शाद्वल की मुसकान,
दिखा रही थी स्नेह-दीपमय कैसा जग म्रियमाण ॥

तरल ताल पर ताल दे रहा विमल प्रफुल्ल विलास,
सद्म - सद्म में पद्म - पद्म में चमका ईश - प्रकाश।
हुआ धरा पर तन्मयता का रागारुण विस्तार,
विभा - विभोर - भोर में गूँजा सत्य-बीन का तार ॥

फूला नहीं समाता था कामना-कुसुम चहुँओर,
लहराता स्वर्णाभ वदन पर फूला भाव अछोर।
राज रहा सतरंग बसन से भूषित शिव का रूप,
नन्दन वन बन गई धरा ले शब्दालोक अनूप ॥

सलिल-वक्ष पर लक्ष-लक्ष विहँसा दिनमणि साकार,
प्रभा - गर्भ में मृदुल-नवल कलरव का पारावार।
नचा रहा था मन-मयूर को मधु-स्मित के साथ,
सलिल मूर्ति गिरि पर हँसते ऋद्धि-सिद्धि के नाथ ॥

आज विजय का पर्व मनाने का यह है व्यवधान,
सुषमा जुटा रही है यह सब उत्सव का सामान।
धर्म-कर्म के स्वर्णिम रथ पर आसनगत है आज,
रवि शत-शत कर से पहनाता प्रमुदित जय का ताज ॥

आनन्दित आनन्द-धाम है लेकर गुरु को गोद,
आशा फल-शिशु का चुम्बन ले करती विहँस विनोद।
छिपता आकांक्षा - सीपज निष्ठुरता - सीपो बीच,
शौर्य विहँसता कर्म-पंख पर लेकर श्रम का कीच ॥

वह सुख जिसके लिये मनुज पोता दुख-पारावार,
मिलने पर कितना प्रिय होता अकथ अविज्ञ अपार।
सारा श्रम सुखदायी होता करके फल-मधु पान,
मानस के मन्दिर में मिलता श्रद्धा का वरदान ॥

अन्तस-अजिर चमक उठता ले राका-पर्व प्रकाश,
दुर्बलता पी जाता है साहस का सिन्धु - विलास।
चिर परिचित पथ के काँटे लगने लगते हैं फूल,
आँखों के सम्मुख फहराता धीरज का मस्तूल ॥

कीर्ति-कौमुदी लिये हुए कोमल कर में मधु-पात्र,
पिला-पिलाकर सहलाती है शौर्य-स्वत्व का गात्र।
ईप्सितार्थ कर्मठ-भुज पर मुसकाता है दिन-रात,
कदम-कदम पर लहराता है सत्यावृत जलजात ॥

स्नेह-स्निग्ध छाया में बैठा करता कौन विलाप,
रुला रहा जड़ - चेतन को औ स्वयं रो रहा आप।
क्या उसको है नहीं भा रहा अचला का शृङ्गार,
क्या उसका उर-ताप मिटाने में है विकल बयार ॥

हँसा नहीं पाता है उसको सुषमा सिन्धु-विलास,
नचा नहीं पाता उसका उर उत्सव का कैलास।
स्वर्ग - राज में पहुँचा कैसे उसको मर्माघात,
जिससे सत्व रहा उसकी कामना - कुसुम का पात ॥

चले धर्म-गुरु चिन्तन करते उर में पर-दुःख-आह,
तप्त तवे सम जला रही थी सत्य-धाम की राह।
कृशित अकिंचन भाव-शून्य से करते हुए विलाप,
सैय्यद बुद्धू शाह मिले ले पुत्र-निधन का ताप ॥

पुत्र-शोक से पागल होकर थे गन्तव्य-विहीन,
विचर रहे थे निरालम्ब वे हो गन्तव्य-विहीन।
मानस-स्नेह पिघलकर करता नयनों का पथ पार,
कृशित कपोलों पर रुककर क्षण करता हाहाकार ॥

डगमग पाँव लुढ़क पड़ते थे हो चेतनाविहीन,
अन्तस-तमस-अजिर कम्पित था हो सुत-ज्योति विहीन।
बकते थे, "हो लाल कहाँ मुझसे तुम नाता तोड़,
क्या तुम भटक गये मेरी-दीना-कुटिया-पथ छोड़ ॥

आओ नहीं डरा देंगे तुमको पीपल के भूत,
सीख कहाँ से लिये रूठना मेरे पागल-पूत ?
लगती नहीं तुम्हें क्या दिल ! अन्धी माता को मोह ?
आओ, नहीं तुम्हें धर लेगी कुलटा छिपी समोह ॥

सुबह-सुबह तुम निकले घर से लेकर धनुष-कमान,
और कह गये लौटूँगा मैं वालिद ! सीना तान।
मेरे जिगर ! न आँख-मिचौनी मुझसे ज्यादा खेल,
तेरा तन मलने को बैठी माँ गरमाकर तेल ॥

लो मैं आँख मूँद लेता हूँ मान तुम्हारी बात,
आजा मुन्ना ! बैठ गोद में करो न ज्यादा रात।
मैं तो बहुत अधिक चल आया पाँवों तर है ठाँव,
तू ने तो हे दिल ! मारा है अभी जमीं पर पाँव ॥

अभी रूठना सीख गये तो आगे कौन हवाल ?
तेरी अम्मा भूखी होगी मेरे प्यारे लाल !
काफी मिन्नत मैंने की है मसजिद में दिन-रात,
जिसको देख ईंट पत्थर भी खा जाते थे माँत ॥

तब अन्धी आँखों में पाया तुम-सा लाल चिराग,
तो इतनी आसानी से तू मुझसे दूर न भाग।
यदि तुम कहीं आसमाँ में छिप जाओगे दिल ! भूल,
तब भी नहीं झोंक पावोगे इन आँखों में धूल ॥

तब तेरे चन्दा मामा के घर आकर चुपचाप,
तुमको पा जाऊँगा अपने हाथों में मैं आप।
अच्छा तुम दौड़ा लो मुझको तुम खाओगे मार,
पर हूँ विवश तुम्हारी माँ की मार में भी है प्यार ॥"

पढ़ते हुए ग्रन्थ की वाणी गुरु जी बढ़े सचाव,
गले लगाकर ढाढ़स देते बोले, "बुद्धशाह !
क्या अजीज ! धूमिल दिखलाती है रहीम की राह ?
जो पग-पग पर पागल होकर भरते चलते आह ॥"

चौंक पड़ा वह पुत्र-शोक से व्याकुल-तप्त-शरीर,
आँख उठाकर देखा जड़-जंगम से पड़े अधीर।
लिपट गले से धर्म-गुरू के करने लगा विलाप,
सुधा-सिक्त गुरु की वाणी से घटता जाता ताप ॥

"सोच न शाह ! विश्व केवल है दो दिन का ही खेल,
केवल है गतिमान जीव का मेल और अनमेल।
नचा रही केवल मृगतृष्णा प्रतिपल विकल खगोल,
चंचल चितवन सहित सुनाती काम-कला की बोल ॥

जिसने जग-उपवन में बोया नाना रूप-प्रसून,
यदि उसने ही मृत्यु-करों से लिया विहँसकर छीन।
तो इसमें क्या वश अपना जो होते शाह ! मलीन,
इसके लिये वही रोता जो है बिल्कुल मतिहीन ॥

व्यर्थ रो रहे शाह ! पुत्र ने किया वीर-सा काम,
रात आसमाँ के कागज पर लिखती उसका नाम।
हुआ सुरखरू सूरज-सा वह अभिमानी फौलाद,
इसी तरह जग से चलती है तेरी औलाद ॥

समझदार है वही कि जो दुःख सुख को मान समान,
लाभ-अलाभ विभाव-भाव में हो न कभी गतिमान।
कर्म-पंख पर बढ़ा करें हों दिल में राम-रहीम,
शोक-रोग से कभी न काँपे, है वह वैद्य-हकीम ॥

यह तो मर्त्यलोक है सबका मरना ही है काम,
मरता नहीं वही जिसका रह जाता जग में नाम।
मजहब हममें है इससे हम हैं पशुता से भिन्न,
यदि इससे हम दूर रहें तो पशु से नहीं अभिन्न ॥

जग का क्या है नाता ठंढे दिल से सोचें आप,
तो मिट जावेगा अपने से ही मानस का ताप।
सब रोते हैं जग में केवल स्वारथवश ही शाह!
रोता नहीं वही जिसके दिल में है सच्ची चाह ॥

जब चल फिरकर यह शरीर हो जाता है गतिहीन,
तब कहकर अपूत मिट्टी हो जाते अधिक मलीन।
दूर हटाने को इसको करने लगते व्यवधान,
सब कुछ देख रहा फिर भी प्रतिदिन बैठा नादान ॥

प्राण-प्रिया दो चार बूँद आँसू से करके प्यार,
चौखट के भीतर करने लगती घर का व्यापार।
भाई-बन्धु उठा कन्धे पर ले जाते श्मशान,
पुत्र पिता से पिण्ड छुड़ाता देकर पावक-दान ॥

यह शरीर जिसकी सेवा में धरणी-नभ कर एक,
मानव पग में पंख बाँधकर लाँघा शृंग अनेक।
शीत-घाम के तीक्ष्ण शरों में अपना सीना तान,
सदा जुटाता रहा इसी के पोषण का सामान ॥

जला कोप का ज्वाल बनाता कितने नगर वीरान,
हँसते-हँसते स्वार्थ हेतु ले लिया धर्म की जान।
सत्य-सिन्धु को सोख बहाता अनघ-अनीति-प्रवाह,
काट रहा दुधमुँहा लाल भरता न तनिक भी आह ॥

मुख में राम बगल में छूरी यह भव का अपवर्ग,
दीप बुझाकर कितनों का करता दीपावलि पर्व।
चाहे जले लाज की होली, नहीं जरा भी ध्यान,
तन यह पले भले मिट जावे शुभ-स्वदेश-अभिमान ॥

वह तन कुछ ही क्षण पावक में भर पाता है आह,
ऊर्ध्व देश का पंछी बनता पकड़ धूम्र को बाँह।
यह असार संसार शाह! रोता स्वारथ के हेतु,
अजर-अमर फहराता रहता धर्म-कर्म का केतु॥

बोलो इस म्रियमाण जगत में सेव्य अटल है कौन?
कुछ तो कहो, सोच करते थे कब के बैठे मौन!"
शाह! युगल दृग के आँसू से धोए गुरु का पाँव,
बोले, "ये दोनों पद-पंकज ही हैं मेरे ठाँव॥

जो हो हुकुम उसी पर दूँ मैं यह जीवन अब वार,
हँसती हुई जमीं अपना है वतन और परिवार।
फूले फले और लहरावें लेकर मेरा प्यार,
जो कुछ लहू हमारे तन में वह सबका भण्डार॥

आज्ञा हो गुरुदेव! चूँम लूँ हँसकर मैं अंगार,
सेज बनाकर काँट-कुशों का करूँ वतन को प्यार।
हिमालया को सिर के बल चलकर कर जाऊँ पार,
मगरिब का सागर लोहू से भर दूँ ले तलवार॥"

बोले गुरु, "हे शाह! देख लो दिल की आँखें खोल,
उलझन में अमरत्व-तत्व कैसा है बना अतोल।
एक लड़ रहा, एक बढ़ रहा, एक पड़ा है क्लान्त,
एक ढूँढता जगत छोड़कर आभामय एकान्त॥

किसको वरण करे मानव दानवता का उर भेद,
उतराता है कभी डूबता हँसता सम्मुख खेद।
कोई भूल चला पथ, कोई रखता डगमग पाँव,
दिन-दिन बोझिल होती जाती है आशा की नाव॥

तो अब क्या करना है इस पर करो अजीज विचार,
जिससे भूली हुई नाव को मिल जाये पतवार।
क्या मुस्लिम क्या हिन्दू सब में हो भाई-सा प्यार,
सबको मिल जावे आसानी से रहीम का द्वार॥

मेरा शत्रु न मानव है, है इसका अत्याचार,
मेरे वाण पान करते हैं जन-जन हाहाकार।
सुखी रहें सब मिलकर गावें परमारथ का फाग,
मिलकर गले त्याग दें अब से मत्स्य-न्याय की आग ॥

लेकिन मैं हूँ सोच रहा यह दिल्ली का सुल्तान,
जो स्वारथ की सुरा पानकर करता है अभिमान।
अहंकार की जिसकी आँखों में है भरी खुमार,
जो है न्याय मानता अपनी खुली हुई तलवार ॥

मासूमा माँ-बहनों की अस्मत का करता मोल,
जुल्म और अत्याचारों का रहा द्वार ही खोल।
जो ले करके चुने हुए अपने जुल्मी सरदार,
दोनों का ले प्राण-पुष्प रच रहा स्वार्थ का हार ॥

ले अब इन वाणों से करना है उसका मद-चूर,
जिससे माँ का सड़ा अंग हो जाय सदा को दूर।
शान्ति-सिन्धु में यह अड़ता है बनकर अगम पहाड़,
तो वाणों से दूर-दूर करना है इसका हाड़ ॥

राजधर्म की नीति उज्ज्वला क्रूर रहा है भूल,
वार-बार बतलाने पर भी चलता है प्रतिकूल।
तो अब टक्कर से ही हो सकता है ठीक दिमाग,
जब उसकी विलासिता पीवेगी मजहब की आग ॥

समझा है जो चाहूँ कर लूँ सब हैं बने हैवान,
चाहूँ जहाँ बिठा दूँ सबका पकड़ - पकड़ कर कान।
अब उसको मालुम होगा आटे-चावल का भाव,
जब बच्चा बच्चा जागा है, लगा प्राण का दाव ॥

नहीं जानता, तिनके-तिनके में भी है अभिमान,
नहीं जानता, चन्दन में भी रहती अग्नि महान।
नहीं जानता, जल में ही रहती है तड़ित कराल,
ये सब स्वाभिमान हित बनते शीतल होकर काल ॥

समझ रहा हूँ, पूर्व-पराजय से अरि का भी भाव,
दूने बल से उबल रहा होगा बदले का भाव।
कल ही फिर सेना लेकर वह छेकेगा मैदान,
धर्म-धाम का सौदा करना समझा है आसान ॥

बोलो शाह ! आप ही हैं हम सब में बड़े बुजुर्ग,
हो जाऊँ तैयार समर हित अरि आने से पूर्व।
सुत का बदला अभी चुका लो पड़े न बासी खून,
सुत-हन्ता को अभी पकड़ कर दो संगर में हून ॥

चौदहवाँ सर्ग

धर्म-शिक्षा में जहाँ नित रक्त की स्याही बनी थी,
कर्म-शिक्षा में जहाँ जग शक्ति मनचाही तनी थी।
मुण्ड-मुण्ड त्रिपुण्ड का था तेज गौरव को जगाता,
आत्म-बल, भुज-बल-प्रबल-दल भीरुता पल-पल कँपाता ॥

बाँध मुट्ठी में प्रलय को लय-निलय जय-जय सुनाता,
साधकर कोदंड-पवि भुज-दंड पर भय को नचाता।
दृष्टि के सम्मुख विभा कर माँत खा कर छिप रहा था,
दूर धरणी से क्षितिज में पाप का दल मिट रहा था ॥

लोभ-भोगोत्ताप आप प्रताप-ज्वाला में जलाता,
सृष्टि का यह चक्र अपनी तर्जनी पर ले नचाता।
लक्ष्य ध्रुव का शंख अपनी तर्जनी पर ले बजाता,
शत्रु- दल के वक्ष पर चढ़ रुद्र बन कर गड़गड़ाता ॥

राजती थीं सिद्धियाँ प्रति लोम पर कुछ गुनगुनाती,
शुभ्रता सत्कर्म का शुभ पंथ पल-पल पर बनाती।
दैन्य-दुख, संशय न जिसके पास तक आया कभी भी,
स्वार्थ की होली जला कर क्षण न मुरझाया कभी भी ॥

तौलता था विघ्न को जो ज्ञान की पावित तुला पर,
खौलता ज्वालामुखी सम बिम्ब की ज्वाला धुला कर।
आप मिटता ही रहा पर स्वत्व का साधन न भूला,
कीर्ति का गिरिवर बना कर आप अपने पर न फूला ॥

लय-प्रलय को वायु सम निर्भय सतत पीता रहा जो,
क्रूर ज्वाला की लपट पर फूल सा जीता रहा जो।
जो समय के ज्वार पर नित धर्म की नौका सँभाले,
विघ्न सह कर बन महावट सृष्टि की रचना बचा ले ॥

वह प्रतापी पंचनद का देश पावन पर्व वाला,
शौर्य के सित पंख पर आसन जमा अपवर्ग वाला।
सिर उठाता वीर रण में पहन कर फिर मौत-माला,
काँपता यमराज थर-थर स्वर्ग में कर बन्द ताला॥

देख ले सम्मुख विहंसती पूर्वजों की कीर्ति-माला,
देखते सम्मुख धधकती पूर्वजों की खड्ग-ज्वाला।
देख लो सम्मुख धधकती शक्तियों की माँग-माला,
देख लो सम्मुख छलकता माँ-बहन का प्यार-प्याला॥

बाँच लो इतिहास का पन्ना उलटती नियति पल-पल,
जाँच लो शुचि हास का पन्ना उलटता प्रकृति दल-दल।
नाच लो तलवार पर यह नाचती किसलय बताती,
मृत्यु कायर ही पुरुष को सुप्त जाग्रत में कँपाती॥

भूलना प्रण को नहीं यह वीर-मस्तक में लिखा है,
फूलना तलवार पर यह धीर मस्तक में लिखा है।
झूमना अरि-कण्ठ से तलवार-मस्तक में लिखा है,
जूझना तूफान से पतवार-मस्तक में लिखा है॥

खड्ग की ज्वाला शहीदो! म्यान में अब खौलती है,
शूरता भुज बल प्रबल प्रति याम में अब तौलती है।
बढ़ चलो रवि रथ बढ़ा, हम भी न उससे कम चलेंगे,
पंथ के कुश-कटंकों को पाँव से मर्दित करेंगे॥

यह खड़ी पथ की बनाली आप झुकती जा रही है,
वीर-पथ शिवमय बने यह आप भजती जा रही है।
धर्म की हो जय प्रफुल्ला कोकिला जय गा रही है,
वायु शत-शत कर पसारे पाँव को सहला रही है॥

धर्म-गुरु लेकर अनी इस भाँति पावन मन्त्र पढ़ते,
मृत्यु को पद से दबा कर शूल को कर फूल चढ़ते।
वायु की गति मात खाती वीर-गति बनती विजयिनी,
रश्मि में थी लपलपाती सर्पिणी सी असि प्रलयिनी॥

पवन-तन पर टाप रख-रख वाजि अम्बर थरथराते,
कनक किरणों में चपल कौशेय फरफर फरफराते।
बैठ श्यामल पीठ पर गुरु तुमुल रणभेरी बजाते,
प्रलय अम्बर ध्वनि सदृश हुंकार कण-कण में जगाते ॥

रिपु-अहं-मद-मान-मर्दक भुज-प्रबल पवि-पाणि से बन,
पीटता था संकटों के वक्ष पर फौलाद सा घन।
मेदिनी थी डगमगाती देख संख्यातीत दल-बल,
पवन भी गतिहीन होकर खोजता कम्पित विटप दल ॥

पंथ के पत्थर विपुल पवि-पाँव से होकर विमर्दित,
मस्त होकर धूल बन कर उड़ रहे भय से चतुर्दिक।
चमकती चपला न घन में सोच कर यह बात मन में,
सौत-असि कोपाग्नि की ज्वाला न भरते तुच्छ तन में ॥

आर्य-सेना के प्रबल जय-घोष से दिग्गज प्रकम्पित,
आर्य-सेना के सतत रण-वाद्य से अम्बर प्रकम्पित।
आर्य-सेना की खुली तलवार से किरणें प्रकम्पित,
आर्य-सेना की तुमुल-हुंकार से अरि-भाग्य कम्पित ॥

सोचते सब थे विकल गुरु दृष्टि किस पर है पड़ी यह,
कौन जग में है अकिंचन मौत उसकी है खड़ी यह।
मोह तन का है नहीं जो काल को न्यौता दिया है,
हाँक देकर धर्म-गुरु को मौत का सौदा किया है ॥

कुंजरों के भयद घंटों के विपुल घनघोर रव से,
वाहिनी के अचल धौंसे के गरम धुधकार रव से।
हो विकल धर कान पर कर सोचता विधना अकेला,
यह धरा पर नव प्रलय का मच रहा कैसा झमेला ॥

भागते भय से विहँग भू व्योम की सीमा भुला कर,
काँपते केहरि प्रकम्पित हो खड़े रोएँ फुला कर।
काँपते तरुवर खड़े निश्चल हरित मस्तक झुका कर,
काँपते रवि भी विकल जग-भाग्य का दीपक बुझा कर ॥

थिर पड़ा भय से पवन कैसे धरा-धमनी चलेगी,
पिल पड़े हैं धीर सब कुछ भी नहीं अपनी चलेगी।
भाग्य वीरों का उन्हीं से पूछकर लिखना मुझे है,
जय यहीं कोपाग्नि - असि की कौंध में छिपना मुझे है ।।

जब सजा कुरुक्षेत्र तो बढ़ पार्थ का मैंने जगाया,
सत्य पर वह शक्ति तौला धर्म का डंका बजाया।
मोह का परदा हटाकर स्वत्व को मैंने हँसाया,
द्रोह का उर भेद कर चिर तत्व को मैंने दिखाया ।।

द्वेष-निधि का हो रहा था नीति-मथनी से विमन्थन,
आत्म-बल से था खड़ा रण-बीच में बढ़ पार्थ-स्यन्दन।
धर्म हो बाना हमारा भक्त-जन हैं प्राण मेरे,
कौन जनमा है जगत में धर्म का जो बाण फेरे ।।

धर्म-गुरु गोविन्द भी जब पार्थ से बनकर बढ़े हैं,
काल को भी मात करके म्लेच्छ-सीने पर चढ़े हैं।
फरफराता केतु जिसका व्योम के नीले शिखर पर,
थरथराता ताप से जिसके अनघ का नीत घर-घर ।।

भक्त जन की लाज ही इस स्वर्ग की भी लाज है अब,
भक्त जन का काज ही इस स्वर्ग का भी काज है अब।
ईश की गति बीर - पग में शक्ति सी बनकर समाई,
देखने नरमेध की पूर्णाहुती सुषमा सुहाई ।।

केतु की गति में समाऊँ वीर-भुज में शक्ति भर दूँ,
प्रण बनूँ मैं धर्म-रण में और मन में भक्ति भर दूँ।
धर्म का यह रथ समर में कर्म का स्यन्दन बनेगा,
भूमि का कण-कण तिमिर को भेदकर नन्दन बनेगा ।।

आर्य-सेना बीर-गति में लय-पवन सम हरहराती,
मेदिनी, गिरिवर, नदी, नद, विटप का मानस कँपाती।
बीर-रव में ताल पर दे ताल प्रतिपल बढ़ रही थी,
हाथ ले सिर अमरता के शिखर पर वह चढ़ रही थी ।।

देखते क्या हो जयी ! प्रतिकूल ग्रह हों पर न रुकना,
व्योम भी आकर अड़े तो धीर ! तुम जब भर न झुकना !
ठोंक कर तुम ताल बढ़ कर काल से भी स्वत्व छीनो,
चीर कर चट्टान का भी वक्ष अपना स्वत्व बीनो ॥

बढ़ चलो आखेट असि का अब न कुछ भी दूर वीरो !
चढ़ चलो अब शूरता का लक्ष्य भी नजदीक धीरो !
एक एक कदम शहीदो ! तीर्थराज समान होगा,
मेदिनी अपवर्ग होगी वीर-गति का भान होगा ॥

पूर्वजों की साध बैठी कीर्ति-शतदल पर हँसेगी,
शूरता बैठी दिवस की रश्मि पर युग-युग लसेगी ।
जन्म के ही साथ वीरो ! मृत्यु का इतिहास बनता,
कर्म के ही साथ धीरो ! स्वत्व का इतिहास बनता ॥

सामने रण-भूमि आई ले प्रबल कोपाग्नि ज्वाला,
हरहराती चरु चबाती थी खड़ी प्रतिशोध-माला ।
नव फलाफल का रुधिर-अंचल प्रकम्पित उड़ रहा था,
धार पर तलवार की रवि-तेज निष्प्रभ मुड़ रहा था ॥

मातृ-भू के शीशदानी चल पड़े लोहा चबाने,
रक्त से खप्पर भरा कर भाविनी विजया मनाने ।
शक्ति का सम्बल सँभाले बोलकर जयघोष सा जय,
क्रुद्ध बाहर सा दृगों में ले यवन दल का प्रलय लय ॥

कड़कड़ा कर लपलपा कर कौंध असि-चपला चमकती,
मौत की बन कर सखी प्रति कंठ पर बढ़कर धमकती ।
खनखना दो टूक हो गिरती धरा पर घनघना कर,
बह रहा था वायु के भी गान से शोणित तरातर ॥

रण-द्विरद धर शुंड से नर-मुंड को नभ में नचाते,
फूँक कर भूधर सदृश दृग बंद कर रद कड़कड़ाते ।
शुंडहीन द्विरद कहीं खा मार भू पर तड़फड़ाता,
मेदिनी धसती प्रकम्पित शैल डगमग लड़खड़ाता ॥

तीक्ष्ण वारों से लगे वे शत्रु-सिर-माला बनाने,
तीक्ष्ण बाणों से लगे वे रण - कला-कौशल दिखाने।
दो प्रलय के मेघ जैसे मत्त हो टकरा गए हों,
छूट कर - जल - शर प्रलय के माल में लहरा गए हों ॥

हो विकल निर्जीव से खग कोटरों में दहस खाकर,
शावकों को भय-प्रकम्पित पंख-आँचल में छिपाकर।
सोचते थे जठर-ज्वाला से ज्वलित प्रतियाम रह-रह,
ये कलेजे चोंच खोले विलखते हैं भूख सह-सह ॥

आप भूखा मैं रहूँ पर लाल को कैसे रुलाऊँ,
आज जलती है हवा में पाँख मैं कैसे हिलाऊँ।
आज तक भजता रहा मैं राम सब को अन्न देते,
पर यहाँ मैं देखता हूँ राम सब को जान लेते ॥

अर्द्ध-मृत भू-पर कहरते त्राहि-त्राहि पुकार आती।
धर्म-गुरु अरि पर लहरते वाण की बौछार आती।
वाजि का भी गात शर से विद्ध छलनी हो गया था,
जय-विजय का चिह्न लोहित दृश्य उर से खो गया था ॥

मुण्डहीन तुणीर पकड़े वीर कोई सो रहा था,
झुण्डहीन असंख्य रिपु में पाप कोई धो रहा था।
बढ़ तुमुल हुंकार-रव में मल्ल-रण कोई दिखाता,
बैठ सीने पर सबल था हड्डियों को तड़तड़ाता ॥

तोपचो थे मुगल-दल के क्रोध से भू-नभ कँपाते,
वज्र सी चट्टान को भी रज बना दिशि में उड़ाते।
ज्वाल लंका-दाह सी थी काल को प्रतिपल कँपाती,
पकड़ करके धूम्र कर से व्योम को भू से मिलाती ॥

ढाल पर असि-वार से कढ़ती ज्वलित चिनगारियाँ थीं,
खड्ग से थे खड्ग लड़ते छिटकती चिनगारियाँ थीं।
टाप के प्रतिघात से जगती उवल चिनगारियाँ थीं,
छिटकती रण - सूरमों के नेत्र से चिनगारियाँ थीं ॥

रुण्ड-मुण्ड, वितुण्ड से थी मेदिनी तिल भर न खाली,
मौन निष्प्रभ थे पड़े, थी सूखती व्रण-रक्त लाली।
रोष की ज्वाला ज्वलित उच्छ्वास पर जय-जय सुनाती,
वीरता के पंख पर चढ़ धीरता मरना सिखाती॥

रक्त की पिचकारियों से ज्योति-सित-पट रँग चला था,
भक्ति की किलकारियों से दिग्विमण्डल जग चला था।
घोर शोर अछोर चढ़कर पवन-हय पर हरहराता,
शैल-शिखरों को चरण से चाँपकर था थरथराता॥

तैरती थी रक्त-निधि पर शिथिल ढाल अकाल बढ़-बढ़,
भूल अपनापन जयी लोहा चबाते मंत्र पढ़-पढ़।
रोष के आवेग में जय-लक्ष्य भी धूमिल पड़ा था,
ज्ञानहीन यवन कहीं निज मित्र पर ही पिल पड़ा था॥

सद्य-शोणित पानकर रण-भूमि भी खूनी बनी थी,
तरु-करों में किसलयी रक्तिम कटारी भी तनी थी।
पर विकल थी सोचकर यह, वार मैं किस पर चलाऊँ,
लाल दोनों हैं हमारे फूल किस पर मैं चढ़ाऊँ?

सिर किसी का खड्ग से छँट-छँट अवनि पर लड़खड़ाता,
छँट किसी की हाथ असि से अर्द्धमृत था तड़फड़ाता।
मेदिनी शव से भरी थी तिल न रखने की जगह थी,
काल ताल सुना रहा था प्रेतिनी की यह जगह थी॥

आर्य-सेना थी कभी उल्लास में उत्सव मनाती,
शत्रु-सेना थी कभी बढ़ हर्ष का डंका बजाती।
इस तरह विजया समर के शीश पर चढ़ खेलती थी,
नील-नभ के वक्ष पर ज्यों मुक्त छनदा खेलती थी॥

धर्म-गुरु का एक बाण प्रचण्ड भेदी सा गरजता,
पवन का तन चीरकर रवि-रश्मि-ज्वाला पर लरजता।
चल प्रबल हुंकरित रव में शत्रु-सेना थरथराया,
और सिर-अजमेर चन्द दीवान का नभ में उड़ाया॥

शत्रु-सेना देख सेनापति-शयन-हत दहस खाकर,
आर्य - सेना की पताका पर लसी विजया सुहाई।
आर्य - ध्वज में पूर्ण - गरिमा से लगा बढ़ फरफराने,
विश्व में अपवर्ग की गाथा लगा पल-पल सुनाने ॥

स्वर्ण का नव - सिन्धु अम्बर के हृदय में मुसकराया,
पर्ण - पर्ण विजय - विभा में झूमकर कुछ गुनगुनाया।
रवि चले चढ़ विद्रुम – नौका पर प्रतीची के भवन को,
धर्म की जय का नवल सन्देश देने क्षिति - भुवन को ॥

पुस्तक को चेतन इकाई मान उसके साथ
बुद्धिमान मानव का सा सद्व व्यवहार करें।

•

पन्द्रहवाँ सर्ग

समर-भूमि - क्रोधाग्नि शान्त थी,
मलिन दिशाएँ पड़ी कान्त थीं।
चलता पवन शिथिल डगमग था,
तमसावृत नीरव अग जग था॥

नहीं लहर का अब नर्तन था,
केवल मानस में कम्पन था।
शिथिल कर्म का पंख पड़ा था,
सपनों का संसार खड़ा था॥

जड़ चेतन में भेद नहीं था,
व्योम - भूमि - विच्छेद नहीं था।
काजल का संसार बना था,
नीरवता का तान तना था॥

केवल झिल्ली बोल रही थी,
जीवन का पट खोल रही थी।
नगर - विरान समान बने थे,
डगर तमस के हाथ सने थे॥

तरुवर भूत समान खड़े थे,
खग भी नीरव क्लान्त पड़े थे।
कहीं उलूक गरज पड़ते थे,
देख शिकार झपट पड़ते थे।

मगन प्रेतिनी राज रही थी,
ले-ले खप्पर नाच रही थी।
प्रेत मधुर - चुम्बन लेता था,
दिल लेकर दिल दे देता था॥

समर - भूमि के वक्षस्थल पर,
निष्प्रभ - धर्म - पूत - शतदल पर।
श्वान श्वान से गुर्राते थे,
रखकर बोटी भिड़ जाते थे॥

जम्बुक लाश चिचोर रहे थे,
तड़तड़ पसली तोड़ रहे थे।
लेकर अँतड़ी चुभलाते थे,
नेजा शीघ्र निगल जाते थे॥

गिद्ध दुधारी चोंच बढ़ाकर;
पंजे से खोपड़ी अड़ा कर।
आँख निकाल निगल जाते थे,
मन ही मन वे हर्षाते थे॥

बिखरी हुई कहीं अँतड़ी थी,
माँस - विहीन कहीं ठठरी थी।
कहीं खाल की बिछी दरी थी,
कहीं रक्तमय भूमि हरी थी॥

बिखरे शेल कृपाण कहीं थे,
निष्प्रभ सोये बाण कहीं थे।
पड़ा रक्तमय चन्द्रहास था,
क्रूर नियति का यह विलास था॥

भाले पड़े बिहाल कहीं थे,
हाथ रक्त से लाल कहीं थे।
शिथिल कूर्म सी ढाल पड़ी थी,
धूलावृत मणि - माल कहीं थी॥

निशाचरों का भोज जगा था,
शौर्य कोस भर दूर भगा था।
प्रेत - प्रेतिनी साज सजाकर,
निज - निज खप्पर वाद्य बजाकर॥

आपस में बातें करते थे,
जीभर नाच उदर भरते थे।
स्वजनों को बुलवा लेते थे,
खाया भोज चुका देते थे॥

सड़ी लाश बजबजा रही थी,
हवा विकल थरथरा रही थी।
चलना उसको काम मिला था,
तनिक नहीं आराम मिला था॥

अम्बर अपलक नयन खोलकर,
कर्म – धुरी पर डोल – डोलकर।
व्यथा – अश्रु ही बरसाता था,
मन ही मन वह पछताता था॥

कितने भाव कुसुम से सजकर,
कितने मनसूबे रच – रचकर।
प्रात वीर प्रयाण किये थे,
प्रिया – समर्पित बाण लिये थे॥

बहन शुभोन्नत तिलक लगाकर,
वीर शहीदी साज सजाकर।
पुरखों की मर्यादा रखने,
कीर्ति - अमित पावन फल चखने॥

भेजी भ्राता को संगर में,
बजा दमामा नगर – नगर में।
बैठी बाट देखती होगी,
आँसू से मुख धोती होगी॥

प्रिया – प्रेममय हार सजाकर,
फूलों की मृदु सेज बिछाकर।
बैठी बाट जोहती होगी,
विरह बेकली होती होगी॥

माता वीर सपूत सजाकर,
भेजी थी यह सीख सिखाकर।
"पूत ! न दूध लजाना होगा,
विजयी होकर आना होगा ।।"

पर ये वीर यहाँ सोये हैं,
गरम लहू से तन धोये हैं।
आशा बिखर गई धूलों में,
गन्ध बन्दिनी है फूलों में ।।

फूटा भाग्य जयी शूरों का,
टूटा स्नेह शयी धीरों का।
लावारिस से दीन पड़े हैं,
अगम क्रूरता से जकड़े है ।।

चार कन्ध पर भी न चढ़ सके,
प्यार – चार आँसू न छुड़ सके।
मिली न चार बोझ लकड़ी भी,
टूटी जग की स्नेह – कड़ी भी ।।

हाय ! न मिली अर्चि – माला भी,
हाय ! न मिली क्रूर ज्वाला भी।
जो हर्षित निज अंक उठा ले;
अपनेपन की लाज बचाले ।।

हाय ! अन्त की गति न मिल सकी,
हाय ! कली पल भर न खिल सकी।
पशु से हृदय विदार पड़े हैं,
तन पर श्वान, शृगाल खड़े है ।।

तड़तड़ हड्डी तोड़ रहे हैं,
पड़ी खोपड़ी फोड़ रहे हैं।
मानव अपना धर्म न भूले,
कभी न अपने पर भी फूले ।।

कर्म – पंख पर चढ़े चलो तुम,
धर्म – शंख पर बढ़े चलो तुम।
गाओ प्रभु की पावित बानी,
विधि – लीला बिल्कुल अनजानी ।।

रोता हुआ अनन्त सो गया,
रोता हुआ दिगन्त सो गया।
फूलमयी माँ – फूल खो गया,
काजल का मस्तूल खो गया ।।

●

सोलहवाँ सर्ग

नियति के अलस लाल बिन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी।

दिवस - पंख पर शंख बजता प्रणय का,
उषा ताल दे दे जगत को जगाती।
सुधा - सिक्त सौरभ पवन - यान पर चढ़,
अली को रिझाता, कली मुसकराती ॥
सुमन - सेज पर मदभरी ओस बैठी,
सरस - रश्मि - माला विभा में बनाती।
दिवस - नाथ के हेम मंजित चरण पर,
हृदय हार शुभ अर्चना में चढ़ाती ॥

अगम पन्थ कहता चलो बीर - जननी,
चरण - चिन्ह होगा धरम की निशानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा से धरम की कहानी ॥

नयन - देखते नील - नीलम मणी सा,
गगन - सिन्धु के अंक में सो रहा है।
चयन कर लहर का प्रवहमान पर्वत,
मलिन - इन्दु शापित वदन धो रहा है ॥
समय कह रहा ताल पर ताल दे दे,
यही है दशा लोक की इन्दुवाली।
विहसता है कोई शिखर पर विभव के,
मिटाती किसी को निशा घोर काली ॥

मिटा जा रहा फूल जग से किसी का,
कहीं हँस रही फूल की सी जवानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी॥

समर के मरणमय पवन की लहर में,
जननि - पुत्र गुरु से अलग हो गए थे।
पता था नहीं कि किधर कौन बिछुड़ा,
समय के विपिन में स्वजन खो गए थे॥
जिन्हें साथ में ले सुखद ठाँव देने,
चला नीच गंगू कुमति को छिपाए।
बढ़ा जा रहा था भवन - पंथ पर वह,
विकल था विपुल रत्न कैसे चुराए॥

कहता था गुरु का पता मैं लगाकर,
मिलाऊँगा ध्रुव - सत्य गौरव-भवानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से;
लिखी है धरा के धरम की कहानी॥

हृदय ! सिन्धु सा ले पकड़ धैर्य - सम्बल,
युगल लाल ले माँ बढ़ी जा रही थी।
प्रलय का बवण्डर असन सम पचाती,
करम के शिखर पर चढ़ी जा रही थी॥
बीहड़ - पथों के कुशे और कंटक,
सुमन सा मृदल बन बिछे जा रहे थे।
प्रखर ताप सिर पर वहन कर विटप भी,
सुखद राह करके झुके जा रहे थे॥

बनाली लिये सद्य - माला सुमन की,
चढ़ाती मनाकर जयति हिन्दुआनी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी॥

[सोलहवाँ सर्ग

गगन देखता था यथादृष्ट जग को,
निराकुल निलय शान्तिमय कान्तिमय था।
मगन रश्मिमाला कराला हुई भर,
हृदय - वह्नि - ज्वाला, क्षितिज शोकमय था ॥
पहर हाँफता था, असंकुल बिहग - कुल
दिवस के मृदुल धड़कनों में फुदकते।
अहः सृष्टि का चक्र चलता रहा, प्राण
हँसते कहीं थे, कहीं थे सिसकते ॥

विभा के निराले विशद - चित्त - नभ में,
लिखी जा रही थी विमल - ईश - बानी।
नियति के अलस - लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

पवन डोलता बोलता कुछ नहीं था,
व्यथा की लहर में जहर भर गया था।
प्रकृति - पत्र का छत्र कहता यही था,
तमस - चिह्न - मानव नहीं यह नया था ॥
इसी स्वार्थ का कर बढ़ाकर स्वजन ने,
हवन - कुण्ड सोने की लंका बनाया।
पढ़ा पाठ जयचन्द्र ने जब इसी का,
तो आर्या को विधुरा बनाकर बिछाया ॥

गंगू भी जयचन्द सा है विषैला,
वताता उठा वीचि - कर गंग-पानी।
नियति के अलस - लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

भला वीर - जननी को क्या यह पता था,
लिये सिंह शावक बढ़ी जा रही थी।
षट रस व्यंजन जो खिलाता गुरू को,
उसी नीच से वह छली जा रही थी ॥

फटी मेदिनी न झुका यह गगन भी,
अचल भी न पथ में खड़े हो रहे थे।
व्यथा - ताप से हो गलित भी उपल उर,
बने स्नेह - निर्झर सतत रो रहे थे ॥

नीरव पड़ी है विजन-बाँसुरी भी,
सुनाती नहीं है प्रलय - तान मानी।
नियति के अलस-लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

सिखाती थी केहरि-सुतों को, धरम हेतु
कर लो वरण लाल ! पावक का पलना।
स्वयं काल के वक्ष पर पाँव रख रख,
विजय - पंथ पर ग्रन्थ पढ़ते ही चलना ॥
अड़े यदि कहीं मार्ग में पाप - गिरि तो,
जयी ! बढ़ रगड़ धूल-कण सा बनाना।
प्रलय के प्रखर वात में तू अभय हो,
पहन अर्चि - माला विजय - गीत गाना ॥

झुको तुम नहीं सत्य के शुभ्र पथ पर,
अभय दान देती खड़ी है कृपाणी !
नियति के अलस - लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

अड़े ऊर्मि - अधरों को सागर पसारे,
बनो ग्रीष्म ज्वाला अभय पान कर लो।
शिखर पर विजय के पढ़ो ग्रन्थ-बानी,
हँसी अम्बिका है जयी ! मान कर लो ॥
गगन थूक देता है कायर पुरुष को;
अवनि भी नहीं अंक में है बिठाती।
बढ़ा जो कफन शीश पर बाँध कर है,
विजया उसी का विरद - गीत गाती ॥

नहीं धर्म हँसता असद् - प्राण - भय से,
उसे तो हँसाता अमर शीश - दानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

डरा जो जगत में जरा-मृत्यु भय से,
वही मातु का दूध पावन लजाता।
बनाता जो भू-सेज औ व्योम ओढ़ना,
वही धर्म - नौका किनारे लगाता ॥
डरो तुम नहीं लाल! हो सिंह - बालक,
बना पाप-घातक तिमिर क्या करेगा?
पीया सदा जो अशुचि नीर बधने का,
भला वह कभी सिंह - शावक धरेगा?

मरण सेज पर भी धरम गीत गाओ,
यही है हमारी अचल सीख बानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

सोने का सागर ढला व्योम में औ,
रजत - भूमि - थाली मलिन हो चली थी।
भावी - निशा का प्रलय सोचकर व्योम—
धारणी - दिशा में बड़ी बेकली थी ॥
पवन लड़खड़ाता, विहँग भी विकल थे;
व्यथा से नहीं पंख में पूर्व - बल था।
प्रकम्पित मलिन शीश दुख से झुकाये,
बनाली रुआँसा वदन – दीन दल था ॥

दिशायें असित – नील अम्बर – किनारी
में पढ़ने लगी हाय करुणा–कहानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से;
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

पहुँची जगद्बीर - वन्द्या भवानी,
भवन में लिये साथ दो पूत बिरवा।
ढुरकने लगी पेड़ – पौधे लता को,
रुलाती हवा श्यामला क्लान पुरवा ॥
आई निशा साथ में ले सखी नींद,
करने लगी प्यार जल - थल - गगन को।
विछा दी सुधा – सिक्त आँचल धरा पर,
सुलाने लगी जीव – जड़ औ गगन को ॥

निशानाथ अपलक नयन खोलकर,
देखने थे कला - धाम की मौन रानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

सोये सुमन मौन लतिका-निलय में,
जगी थपकियाँ पात-करतल मृदुल की।
मोयी लहर शान्त सरवर - भवन में,
हुई शान्त धड़कन अमल - वारि - तल की ॥
हुआ क्लान्त कलरव विहग घोसलों में,
सिमट - पाँव में स्नेह - शावक भी सोए।
उधर मातुले सिंह शावक भवन में,
अभय शान्त सोई सजग भाव सोए ॥

हृदय - रत्न मा का युगों का जो संचित,
चुराया उसे रो पड़ी रातरानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

जगा प्रात हँसता उषा के भवन से,
धरम की ध्वजा भी लगी फरफराने।
छेड़े विहँग भैरवी तरु - शिखा पर,
करम पंख नूतन लगा फड़फड़ाने ॥

जगी मातु देखा, नहीं रत्न - माला,
चकित दृष्टि देखी चतुर्दिक भुवन को।
कहीं भी नहीं वह मिली रत्न-माला,
व्यथित अश्रु धोने लगे माँ - बदन को ॥

दुखी जीभ डोली बता लाल गंगू,
कहाँ है रतन-राशि जीवन - निशानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

पामर कड़कने लगा लय-घटा सम;
चली है हमें ही तू चोरी लगाने।
बचाया हमीं ने तुझे शत्रु - कर से,
हमीं पर चली आज जिह्वा चलाने ॥
नहीं लाल ! तुझको मैं तस्कर समझता,
मगर रत्नमाला कहाँ खो गई है ?
भवन में हमारे तुम्हारे सिवा लाल !
आया अपर और कोई नहीं है ॥

उबल क्रोध - ज्वाला से कहने लगा वह,
मजा मैं चखाता हूँ ठहरो भवानी !
नियति के अलस - लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

चला नीच गंगू कुपित मोरडा को,
जहाँ पर पठानों की सेना अड़ी थी।
बढ़ा सोचता वह कुपित जाति - द्रोही,
विनत - भाव से देश - करुणा खड़ी थी ॥
मिली रत्न की राशि मुझको सहज में,
त्वरित पंख के ये कुशे भी हटाऊँ।
पता मैं बताकर यवन को जननि का,
युगल बीच में सुरखरू भी कहाऊँ ॥

मिलेगा उधर से भी मुझको विपुल धन,
कटेगी सुखों से यह स्वर्णिम जवानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

महाकाल के ज्वाल सा भाल रवि का,
भभक कर बढ़ा नीच-जीवन सुखाने।
चला ले प्रलय - कोप पावित पवन भी,
गरजता अनघ - भाग्य - दीपक वुझाने ॥
अगम है अबुझ है लिखी भाग्य - रेखा,
भला कौन जनमा जो उसको मिटाए ?
लिखा क्या समय के असित पत्र पर है,
भला कौन नर है जो उसको बताए ?

हुआ भी वही जो कि होना लिखा था;
मिली नीच को हाय ! अपयश - कहानी।
नियति के अलस - लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

हुई बन्दिनी देश की धर्म - माता,
विधाता तुझे क्या यही भा रहा था ?
पड़ी शृंखला वीर - जननी के कर में,
निराशा का बादल सतत छा रहा था ॥
बँधे सिंह - बालक भयद पिंजरे में,
गरजते अभय पार्थ के पुत्र से थे।
जननि भी तड़पती क्षुधित सिंहिनी सी,
विवश थे, नियति से पड़े त्रस्त से थे ॥

चली बद्ध हो देश की शक्ति-रूपा,
गरजती रही आर्य - पूज्या रवानी।
नियति के अलस लाल विन्दित करों से,
लिखी है धरा के धरम की कहानी ॥

सत्रहवाँ सर्ग

शोणित-सिन्धु अर्चना करता ।
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

आँख खोलकर दृश्य देख लो,
प्रलयकरी के नर्तन का ।
ज्वालामुखी छिपाये उर में,
जीवन - रश्मि विवर्तन का ॥
चुप न रहो अब क्रान्ति चाहती,
दिग्दिगन्त भी डोल उठे ।
रक्त-बिन्दु जग क्रोध-अग्नि से,
जाति धर्म जय बोल उठे ॥

घोषित कर दो शान्ति-क्रान्ति है,
यवन दूत नादानों में ।
शोणित-सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म बलिदानों मे ॥

नहीं देखते पाषाणी का,
हृदय आज है पिघल रहा ।
तिमिर विमज्जित विश्व मिटाने,
बच्चा - बच्चा मचल रहा ॥
आग जल रही आर्य - भवन में,
फिर भी हम चुप सोते हैं ।
राम-कृष्ण के वंशज होकर,
आँसू से मुख धोते हैं ॥

बढ़ो प्राण का मोह त्याग कर,
ज्वालामय मैदानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

हँसता बच्चा फतह सिंह है,
इससे तुम हँसना सीखो।
मरता बच्चा फतह सिंह है,
इससे तुम मरना सीखो ॥
बढ़ा लाल जोरावर है,
इससे सपूत बढ़ना सीखो।
सत्य - अमरता के गिरिवर पर,
इन सबसे बढ़ना सीखो ॥

कितनी मादकता मरने की,
इन दोनों दीवानों में।
शोणित-सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

अपना धर्म प्राण है अपना,
इससे है संसार अड़ा ॥
बिना धर्म के कौन जगत में,
ऐसा है जो रहे खड़ा ॥
धर्म सहारे ही अम्बर में,
नित पतंग है डोल रहा।
ऊर्मि-अधर से सदा उदधि है,
इसकी ही जय बोल रहा ॥

इसका ही तो यशोगान है,
लिखा ग्रन्थ आख्यानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

जीवन-मरण-स्थल पर अविचल,
युगल बन्धु हैं बिहँस रहे।
मानो राम - लखन दो भाई,
सुधा-बिंदु हैं बरस रहे।।
जिसके सत्य - प्रकाश - हास से,
नभ का मस्तक चमक रहा।
सोने का संसार पहन कर,
शिवं - स्तबक दमक रहा।।

वीर चरण-रज सुरसरि सम है,
इस भुगोल म्रियमाणों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में।।

जो मरने का पंथ जानता,
उसको मृत्यु कँपा न सकी।
जो जीवन का तत्व जानता,
माया उसे फँसा न सकी।।
चाहे वह दुधमुहाँ लाल हो,
पर न कभी वह रुक सकता।
चन्द्रहास के अट्टहास में,
क्षण न कभी वह रुक सकता।।

इस प्रमाण को बढ़ कर देखो,
इन दो कीर्ति - किसानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में।।

खड़े मौलवी बरज रहे,
बच्चो ! मत ऐसी भूल करो।
छोड़ हेकड़ी अपनेपन की,
यह इस्लाम कबूल करो।।

माँगोगे तो लाकर दूँगा,
लाल ! आसमाँ - तारों को।
पद पर तेरे रख देंगे हम,
ला मणि - मोती - हारों को ॥

यह इस्लाम भरा है सुख से,
छोड़ो मत नादानी में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

बाल-भानु सम युगल बन्धु का,
मुख - मण्डल दमदमा उठा।
मनों अमाँ के आँचल में यह,
कुपित अनल चमचमा उठा ॥
रोम-रोम से भभक उठी जग
धर्म - वेदिका की ज्वाला।
क्षण में आँखें लाल हो गईं,
पी वीरासव की हाला ॥

कड़क उठे 'क्या यह कहते
है आग न लगी जबानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

क्या इस्लाम यही कहता है,
अपर धर्म का प्राण हरो।
माँ - बहनों पर जुल्म ढहाकर,
बच्चों का बलिदान करो ॥
क्या कुरान के वर्ण - वर्ण में,
कहो मौलवी ! दया नहीं।
यह कैसी है कौम निकम्मी,
कुछ भी इसमें हया नहीं ॥

घायल की गति नहीं जानता,
घायल ऐसे दीनों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

मैंने सुना बड़ों के मुख से,
दादा ने सम्मान किया।
जाति-धर्म की बलि-वेदी पर,
अपना ही बलिदान किया ।।
चले गए जिस पथ से वे,
हमको उस पथ से जाना है।
और तुम्हारे जुल्मों को,
बाणों से अभी मिटाना है ।।

हँसता मेरा धर्म मौलवी !
चमचम बाण - कमानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

राजपाट का भस्म लगा कर,
धर्म - पुजारी चलते हैं।
अत्याचारों की छाती पर,
वज्र पाँव धर चढ़ते हैं ।।
मौत दाहिने-बाँए उनके,
सदा झूमती रहती है।
प्रलयंकरी अभय-असि - ज्वाला,
व्योम चूमती रहती है ।।

उनका ही यह रूप बिहँसता,
हैं मेरे अरमानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

भला नहीं यह किया मौलबी,
छेड़ा सिंह - सपूतों को।
न्योता तू ने आज दे दिया,
अपने घर यमदूतों को॥
जिसने कालकूट पी डाला,
उसको चले मनाने तुम।
उनको चले नीच ! बधने का
पानी आज पिलाने तुम॥

उनका तेज देख लो हँसता,
रवि - शशि के व्यवधानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में॥

बोलो, नहीं पाप पर तेरे
अम्बर टूट गिरेगा अब।
बोलो, नहीं पाप पर तेरे,
तारा टूट गिरेगा अब॥
तेरे ऐसे विधर्मियों से,
धरती आज फटी जाती।
इन्सानियत तुझे ही लखकर,
जग से दूर भगी जाती॥

धर्म - ग्रन्थ ही इसे टिकाया,
हे इस शक्ति - कृपाणों में।
शोणित-सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में॥

सोच रहे हो तेरी बाँहों
में हम आज बँधे बैठे।
जो चाहोगे वह कर लोगे,
इस गुमान में हो ऐंठे॥

तो भ्रम है केवल इस तन का,
पिँजड़ा फाड़ सकोगे तुम ।
मानस के इस धर्म-विटप का,
कुछ न बिगाड़ सकोगे तुम ।।

घुड़की तुम अपनी दिखलाना,
कायर औ नादानों में ।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

जो जनमा, उसको मरना है,
शाह ! तनिक परवाह नहीं ।
चाहे कीलों पर सुलवा दो,
इसकी कुछ भी आह नहीं ।।
जन्मघुटी के साथ जननि ने
हमको धर्म पिलाया है ।
जाति-धर्म पर तुम मिट जाना,
इसका पाठ पढ़ाया है ।।

फूलो शाह ! न तुम अपने इन
भीषण - पाप गुमानों में ।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

बच्चों की सुन बात मौलवी,
ज्वाला से चमचमा उठा ।
सोचा भय से कँप जाएँगे,
मुख - मण्डल दमदमा उठा ।।
बोला, राजगीर को लाओ,
जल्द दिवाल उठाना है ।
जीते जी दोनों काफर को,
उसमें अभी चुनाना है ।।

जिससे ये भी पाठ सीख लें,
मजहब के फरमानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

बात मौलबी की यह सुनकर,
क्षत्रियत्व दमदमा उठा।
अम्बर से धरणी तक अपना,
आर्य - धर्म चमचमा उठा ।।
"चुनवाने की बात मौलवी !
कायर को धमकाना तुम,
मुसलमान निर्बल बकरों को,
घुड़कों से डरवाना तुम ।।

कहाँ गई थी शक्ति तुम्हारी,
रजपूती अभिमानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

उठने लगी दिवाल पाप की,
माँ वसुधा की छाती पर।
धर्म - कमल सम मुसकाते थे,
युगल - बन्धु माँ थाती पर ।।
ईंट-उपल भी व्यथा - ताप से,
भभक - भभककर रोते थे।
अश्रु - धार से चूने - गारे,
पानी - पानी होते थे ।।

कुछ उठकर दिवाल गिर जाती,
गातृ - हृदय के बानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

अधम पेट ! तू मुझसे यह क्या,
धरती पर करवाता है ?
इन दोनों निर्दोष सुतों को,
मुझसे तू चुनवाता है ।।
मुझ लड़के - वाले से पापी,
यह अनर्थ करवाता है ।
यह अपयश की क्रूर कहानी,
युग - युग को लिखवाता है ।।

आने वाला वंश सुनेगा,
वृन्त - वृन्त की तानों में ।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

हाय ! गगन भी नहीं छूटता
कितना बड़ा कठोर बना ।
मेरे कर से पाय देखने
को यह है चुपचाप तना ।।
राजगीर कम्पित था दुख से,
यह सब वह था सोच रहा ।
व्यथित करों में करनी लेकर,
गारों को था पोंछ रहा ।।

दिग्दिन्त से अपयश की ध्वनि,
पड़ती उसके कानों में ।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

रोती हुई दिवाल खड़ी
हो गई लाल के कन्धे तक ।
जलती हुई अशनि की ज्वाला,
पहुँची उनके कन्धे तक ।।

पुनः मौलवी व्यंग-भाव से
लड़कों से हँस कर बोला।
अक्ल ठिकाने हुई काफिरो !
कहकर मन्द - मन्द डोला ॥

दिखलाओ जो ताकत हो,
तेरे इन बान-कमानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

बाल शहीदों को छाती पर,
गिरा वज्र का यह शोला।
पुश्तैनी हेकड़ी सहित बढ़,
जोरावर गर्वित बोला ॥
केहरि को पिंजरे में रखकर,
मूर्ख ताव दिखलाओ तुम।
साहस हो तो बन्धन छोड़ो,
और सामने आओ तुम ॥

तब दिखलाऊँ क्या ताकत है,
क्षत्रियत्व के बाणों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

मौत तुम्हारी खड़ी सामने,
अब तो नादानी त्यागो।
धीरे से मजहब अपनाओ,
और जान माफी माँगो ॥
अब क्या ताव दिखाते हो तुम,
बाणों से कुछ हो न सका।
काफिर ! बँधे हुए कुत्ते !
मृगया तुझसे भी हो न सका ॥

अब तुम अपनी आन दिखाना,
पत्थर की चट्टानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

वे दोनों माँ के सपूत चुन
दिये गये दीवालों में।
चम-चम तेज चमक कर जागा,
किसलय की करवालों में ॥
दमदम दमका आर्य - त्याग,
अनुराग-निलय के अंचल पर।
बाल शहीदी लिखा गया,
गर्वित उन्नत शतदल-दल पर ॥

बढ़ा जाति का मान शहीदी,
बलिवेदी मुसकानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

बन्दीगृह में वीर जननि ने
सुना बाल-बलिदान नया।
बोली, "नभ देखता रहा यह,
आई कुछ भी नहीं दया ?
इतना बड़ा अनर्थ हो रहा,
भोले लाल चुने जाते !
दीप बुझा कर मेरे घर के,
पापी मन में हर्षाते ?

बिहँसो लाल ! सूर्य सम दिन-दिन,
पूर्वज के अरमानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता
जगो धर्म ! बलिदानों में ॥

हाय ! वेदना यही, कलेजे
मुझे छोड़ कर चले गये।
बेटे गुरु गोविन्द सिंह से,
धोखे में तुम छले गये ।।
दूर नहीं रह सकते हो लो,
आँचल का आकाश तना।
और सुधा से पोषित माँ का,
कर अछोर लो पवन बना ।।

तेरी वह किलकारी बच्चो !
गूँज रही है कानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जागो धर्म ! बलिदानों में ।।

नभ - धरणी हैं एक लाल !
माता के सरस कलेजे में।
ये हैं दो केवल पाओगे,
कूटनीति के नेजे में ।।
हा ! यह मौत ! खड़ी अभागिनी,
आँख - मिचौनी खेल रही।
रोग - शोक भरकर आँचल में,
विष की धार उडेल रही ।।

आशिष देती, शोभित हो तुम
सौख्य - फूल मुसकानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में ।।

ठहरो मैं भी साथ चलूँगी,
पथ है तुमसे अनजाना।
सावधान जग ! कभी न छूटे,
धर्म - कर्म का यह बाना ।।

चढ़कर रवि-शशि के रथ पर नित,
शौर्य अभय प्रतिपल डोले।
अंबुधि का उल्लास पवन की,
वीणा पर जय - जय बोले।।

दे उपदेश, त्याग तन माता,
रमी स्नेहमय गानों में।
शोणित - सिन्धु अर्चना करता,
जगो धर्म ! बलिदानों में।।

सुधी पाठक, "दास कबीर जतन से ओढी ज्यों की त्यों घर दीन्ही चदरिया" बोध-वाणी पुस्तक के साथ आपकी आचार-संहिता का मूलाधार बने।

अठारहवाँ सर्ग

मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ।

नाच रहे हैं विकल-भुवन-मन,
रोमांचित है सुषमा का तन,
मौन प्रभाती, मौन विहग - गन ।
मौन किसलयों का स्पन्दन ।
मौन हास मधुमास-सुमन का ।
मौन लास स्वर्णाभ - वदन का ।।
मौन मधुर-मधु-गान-अली का ।
चितवन-हीन स्वभाव कली का ।।

खोल रहे सब विकल कहाँ पर छिपी सुरभिमयि ज्योति-फनी ।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ।।

गति पगली भ्रम में उलझी-सी,
मति द्युतिहीना थिर झुलसी सी,
मति अनुभूति असंकुल श्री सी,
आतप - ताप - प्रताप-घिरी सी ।
अपलक कृशित विभाव-नयन से
पूछ रही शिव-सत्य - अयन से
कहाँ मन्द मुसकान विभा का ?
वृत्त वृत्त पर गान विभा का ?

भूले उषा - किशोर कहाँ क्यों रोती है रजनी ?
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अपनी ।।

किस अनजान विजन में आकर,
अनुरंजित किसलय फैलाकर,
मधुप-रस-प्रवण-हृदय- बिछाकर,
आरामों का वक्ष हँसाकर ।।
पात-किरण-तति में मुसकाकर,
सौरभ का दुकूल दिखला कर,
मुग्ध लोचनों की छवि बनकर,
शिव के साँचे में ढल-ढल कर ।।

क्षण भर ही मुसका पावे फिर तेरी मधु-सुधि स्वप्न बनी ।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ।।

काल स्नेह का सिन्धु पी सका ?
द्वेष-स्वप्न क्या कभी जी सका ?
क्या प्रतिशोध शान्ति उपजाता,
राग कभी क्या त्याग दिखाता ?
क्लेश-शमन में धैर्य बिहँसता,
वीर-भुजा पर शौर्य चमकता,
अग्नि-अंक में स्वर्ण चमकता,
धर्म-कर्म में वर्ण दमकता ।।

बाल - शहीदों की समाधि है देती यह उपदेश धनी ।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ।।

स्नेह गले कुछ क्षण मिल पाए,
नेह-अयन में कुछ हिल पाए,
तब तक नभ जगकर मुसकाया,
दोलित-लोलित अश्रु बहाया ।।
चकित भाव में ऊपर देखा,
हँसी नियती की अनमिट रेखा ।
चितवन सहित जताती थी वह,
माया-पटल हराती थी वह ।।

कहती हास-रुदन दृग मेरे राग-द्वेष की भृकुटि घनी।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ॥

धर्म-कर्म के सित सम्पुट में,
विघ्नों के झिलमिल झुरमुट में,
शौर्य-अग्नि में शक्ति-तपाकर,
स्वत्व-समुज्ज्वल-भस्म बनाकर;
जरा - मरण का बोझ हटा दो,
नभ-धरणी को अभय सटा दो,
ऊर्मि-अधर से ग्रन्थ पढ़ा दो,
प्राण-प्रसून प्रसन्न चढ़ा दो;

पंचतत्व की यह ठठरी आखिर किस लिये बनी।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ॥

सुधा-धार के अन्तराल में,
स्वत्व शक्ति के इन्द्रजाल में,
अनहद-ध्वनि के मधु-प्रवाह में,
सत्य - सिन्धु के चिर उछाह में;
राका - पर्व - विलास - हास में,
तारावलि स्मित फुहास में,
होता सबका सत्य मिलन है,
फिर न कभी रोदन बिछुड़न है;

व्योमासनगत वीर सुतों की आती यह अविराम ध्वनी।
मानस - मृदुल - मराल-मलिन ले डोल रही अवनी ॥

दिवस पंख हो रहा शिथिल है,
समाकुलित यह विश्व निखिल है,
चलता है उच्छ्वास धरा का,
दुखी कलेजा मनोहरा का;
चारों ओर व्यथा रोती है,
पुत्र - शोक में चुप होती है,

लय पर प्रलय गरजता प्रतिपल,
आशा मूर्छित है दल-दल पर ।।
फिर भी धर्म-श्वास की गति में गरज रहे दो बात धनी ।
मानस - मृदुल - मराल-मलिन ले डोल रही अवनी ।।

अरुणोदय के हेम लास में,
पुष्पित लतिका के विकास में,
लोलित लहरों के विलास में,
अन्दर के पावित प्रकाश में,
संस्कृति के गतिमय विधान में,
उटज-महल के नव-बिहान में,
द्विज के कोमल मधुर गान में ।
वृन्त - वृन्त की हर्ष - तान में,
राग मलार सुनाता हूं होती विभोर चेतना घनी ।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ।।

शाद्वल के शीतल मानस में,
जड़-चेतन पुलकित नस-नस में ।
आत्म-ब्रह्म के मिलन-बिन्दु में,
शब्दालोक अशाप इन्दु में ।।
कलित मूक कामना - कुसुम में,
ललित अनावृत सुख-द्रुम-द्रुम में ।
हृदय हृदय के सद् - विचार में,
माता के वात्सल्य - हार में,
लेता हूँ सविनोद बलइया क्यों गरिमा बावरी बनी ।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी ।।

भ्रम का घूँघट दूर हटा दो,
माया का संसार मिटा दो,
प्रज्ञा का कपाट तुम खोलो,
प्रेम - वारि से आँखें धो लो;

तब देखो मैं दिखलाता हूँ,
कण - कण में मैं मुस्काता हूँ।
सकल चराचर भुवन हमारा,
अलख निरंजन एक सहारा।

चरण - कमल धो रहीं सिद्धियाँ नत्र-वदना अनुचरी बनी।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रहो अवनी॥

पल के युग्म धरणि - अम्बर हैं,
प्रेम - अश्रु वह रत्नाकर है।
ज्योतिर्मय पुतली - पतंग है,
दृग - डोरे सरिता - तरंग हैं॥
सत्य-जागरण दिवस बना है,
नींद निशा का तमस घना है।
समाधिस्थ का यह आसन है,
सत्य - धर्म का ध्रुव-शासन है॥

बलिवेदी को ध्वजा शेष के फन पर से है सतत तनी।
मानस - मृदुल - मराल - मलिन ले डोल रही अवनी॥

•

उन्नीसवाँ सर्ग

अभी न थी सभा उठी व्यथामयी अनन्त की,
अभी न थी प्रभा जगी निशामयी दिगन्त की।
इसी समय प्रभात - दूत - ताम्रचूड़ जागकर,
जगा दिया किशोर - भोर को विमोह त्याकर ।।

मुर्ग - बाँग सुन तमिस्रराज थरथरा उठा,
मुर्ग - बाँग सुन सहर्ष - सिन्धु हरहरा उठा।
लगी सुनीर - वक्ष पर जलोर्मि मत्त नाचने,
विमा समीर - यान पर लणी दिगन्त साजने ।।

परन्तु था शिथिल समीर मर्म - वेदना लिये,
अजस्र आदि - काव्य की विशोक कल्पना लिये।
नहीं कहीं सुना रहा सुवृन्त तान तान था,
प्रसुप्त पुष्प - पुष्प में दुखी - मिलिन्द-गान था ।।

निकल न द्विज स्वनीड़ से शिखा - शिखा थे डोलते,
मचल पवन - हिलोर पर न ईश - नाम बोलते।
उछाह पात पात का विशोक आ - पी गया,
अभाग्य आज देश का प्रबुद्ध जीभ सी गया ।।

अनन्त है दुखी कि आज किसलिये खड़ा रहा,
महान सिन्धु सोचता कि किसलिये अड़ा रहा।
कि लाल दो स्वधर्म के दिवाल में चुने गये,
रुई समान पाप - हाथ से दुखी धुने गये ।।

तृषा उन्हें दिवाल में अशक्त थी सुखा रही,
निशा अजान मृत्यु की प्रमत्त थी नचा रही।
पड़े विहाल लाल वायुहीन थे तड़प रहे,
हो मातृ - पितृ - बन्धुहीन ज्वाल में कलप रहे ।।

न जाज है दिखा रहा सुरम्य सौख्य - धाम है,
न आज है दिखा रहा असंख्य - धान्य - धाम है।
न आज बाल - शीश पर प्रबुद्ध आसमान है,
न आज बाल - साथ में सुराज्य का विधान है॥

कहाँ छिपी वह मर्त्य-लोक की परार्थ - भावना ?
कहाँ गई वह कर्म लोक की सशक्त कामना ?
कहाँ गया वह बन्धु - भाव तरु - अचल, महान का ?
कहाँ छिपा वह शंख - नाद सत्य - व्योम यान का ?

सुखा रहा दुखो दिगन्त गुरु गोविन्द सामने,
बता रहा तपी अनन्त गुरु गोविन्द सामने।
कि धर्म - पीर ! मौन हो विजन वीरान में खड़े,
निहारते स्वदेश को पदस्थ व्याल से पड़े॥

उधर कुमार कर्म के दिवाल में चुने गये,
अमर्ष - तप्त - ज्वाल में साकल्य से धुने गये।
हिला न एक पग गिरीश पाप - सिन्धु - गान पर,
हिला नहीं दधीचि अस्थि - दान सुत - प्रयाण पर॥

तो धर्म - तीर - धैर्य पुत्र - शोक से उबल पड़ा,
विकल स्वमातृ - शोक से कृशानु सम मचल पड़ा।
विदग्ध शब्द - शब्द पर नक्षत्र टूटने लगा,
प्रबुद्ध शौर्य - अब्धि पर नगेश फूटने लगा॥

"जहाँ बसे जयी - सपूत शान्ति में लसा करो,
परार्थ पर सदा किशोर ! क्रान्ति में लसा करो।
बढ़ा है जो सुपंथ पर मरा नहीं जहान में,
पढ़ा है जो सुग्रन्थ वह खड़ा है आसमान में॥

बचा लिये शहीद तुम स्वधर्म के निशान को,
सिखा दिये मरण - वरण असत्य के विधान को।
हँसा दिये अभीति - कीच में पड़े सरोज को;
जगा दिये स्वधर्म के वसन्त के मनोज को॥

दिखा दिये कि क्षत्रियत्व मौत तुच्छ मानता,
कटार - धार पर सहर्ष वक्ष मत्त तानता।
अनादि से झुका नहीं अधर्म के प्रहार पर,
अनादि से रुका नहीं मृगेन्द्र की दहाड़ पर ॥

टूक - टूक हो गए न वात से हटे कभी,
टूक - टूक हो गए न पाप से सटे कभी।
सदा खड़े रहे कि कौन दीन है कराहता,
सदा बढ़े रहे कि कौन धर्म को बिगाड़ता ॥

तो अर्चना सदा यही कि सेज पर मरूँ नहीं,
तो अर्चना सदा यही कि मौत से डरूँ नहीं।
तो अर्चना सदा यही कि खड्ग - लास - हास हो,
स्वप्राण के प्रकाश में स्वजाति का विकास हो ॥

जिये सपूत ! क्षत्रियत्व - मूँछ - शान रख लिये,
स्वधर्म हेतु पंचतत्व का प्रपंच रख दिये।
जिसे स्वधर्म - धाम के सपूत देखते रहें,
स्वलक्ष्य मानकर जिसे प्रहार रोकते रहें ॥

रहे स्वरूप बाल के परन्तु काल भी कँपा,
असाध्य शृङ्ग स्वत्व का शहीद - पाँव से नपा।
अमोघ अस्त्र है यही कि काल को पछाड़ दो,
घिरे वितान - पाप का तो वायु सम बिगाड़ दो ॥

समझ गए अजेय ! तुम पुराण - ग्रन्थ - गान को,
समझ गए अदेह ! तुम असार - सृष्टि - प्राण को।
इसीलिए दिखा चले कि किस तरह प्रयाण हो,
प्रचण्ड राहु केतु से स्वधर्म - भानु - त्राण हो ॥

चले गये युगल सपूत ! खेद है न चित्त में,
चमक रहे कृशानु सम असत्य - शून्य भित्त में।
प्रसन्न पात - पात है स्वधर्म - गीत गा रहा,
सहर्ष बाँह को बढ़ा नदीश है बुला रहा ॥

परन्तु सोच है यही कि मातु से न मिल सका,
अतुल्य-स्नेह-वारि एक घूँट भी न पी सका।
लाल ! तुम अनाथ से जहान से चले गए,
फटी न क्यों धरा कि तुम स्वजाति से छले गए ॥

पिया सुधा समान दूध जिस पुनीत हाथ से,
लिखे अनन्त बाल - गीत धर्म - पूत - पाथ से।
दिये अनन्त सीख तुम सहर्ष - शीश - दान को,
बचा लिये स्वजाति - देश और स्वाभिमान को ॥

परन्तु खेद है यही कि खड्ग म्यान में रहा,
समीर ने न बढ़ कभी अनर्थ की कथा कहा।
बता सपूत ! एक - बूँद - वारि - दान - बाप हूँ ?
अभाग्य माँत खा रहा अमेध - वज्र - पाप हूँ ॥

कि दो किशोर - बुलबुले निकाल प्रेम - सिन्धु से,
खिला रहा बढ़ा रहा अशेष - स्नेह - बिन्दु से।
हिला रहे सहर्ष थे वीरत्व बुद्ध - वल्लरी,
बना रहो वसुन्धरा सुकामना हरी - हरी ॥

निहरते विशुद्ध बाप स्वर्ग से निशा - निशा,
अपूर्ण साध्य पूर्ण हो विराजती दिशा - दिशा।
अथोर कीर्ति - शौर्य - साथ वृन्त - वृन्त घूमकर,
थिरक रहा शिवं किशोर केलि-सिन्धु चूमकर ॥

विचर रहा विरद - विमान बुद्धि - अन्तराल में,
सिहर रहा विशुद्ध भाव मातृ - बुद्ध भाल में।
कि लाल ! आज ताल दे त्रिकाल को सुधार लो,
विरुद्ध भाग्य देश का प्रबुद्ध हो पुकार लो ॥

हिला अथाह पाप का अनिंद्य - सत्य खोज लो,
समय कहे तो स्वार्थ का नभो प्रदेश नोच लो।
बढ़ो जयी सुशक्ति से अमर्ष का मथन करो,
बहा अपार प्रेम - धार शाप का शमन करो ॥

बहा कुपित असद् समीर पाप - ताप साथ ले,
सुखा दिया सुधा - प्रवाह ज्वाल काल साथ ले।
छले गए कुमार - भाव मैं नहीं बचा सका,
मले गये स्वधर्म - चाव मैं नहीं बचा सका ।।

बँधी स्वशौर्य - माँ अनीति के भुजंग - पाश में,
विधी स्वशौर्य - माँ अथच नराच के विलास में।
यही वह कह रही अधर्म में दहाड़ मार कर,
यही थी कह रही कठोर बज्र - वक्ष फाड़ कर ।।

कि क्या किया गोविन्द - सा सपूत आज पालकर ?
कि क्या लिया गोविन्द - सा सपूत आज पालकर ?
नहीं कहीं दिखा रहा अचल समान आज वह,
नहीं कहीं दिखा रहा प्रलय-कृशानु आज वह ।।

कि आज है अधम सहर्ष पूत - वक्ष रौंदता,
बढ़ा प्रलय - घटा - तड़ित समान आज कौंधता।
नहीं वह बढ़ रहा प्रलय - पवन सदृश दहाड़ता,
नहीं गरज रहा नभोप्रदेश आज फाड़ता ।।

अवश्य वह कपूत हो गया जहान बीच में,
नहीं तो आज देखता स्वमातु पाप - कीच में ?
समझ गई कि सिंहिनी पयोद वह लजा दिया,
स्वप्राण मोह में फँसा स्वधर्म को नसा दिया ।।

नहीं सपूत देखते स्वजाति पाप में फँसी,
नहीं सपूत सामने अनीति है कभी हँसी।
नहीं सपूत सामने कुरीति है कभी उसी,
नहीं सपूत सामने अधर्म - डोर है लसी ।।

नहीं सपूत देखते गजेन्द्र - ग्राह की दशा,
नहीं सपूत देखते असत्य - द्रोह की निशा।
नहीं सपूत आज तक स्वमातु को बँधा सके,
नहीं सपूत - सिंह को कभी अघी नसा सके ।।

भला वह कौन राख है जो ज्वाल को छिपा सके,
भला वह कौन वीर है जो काल से बचा सके।
जयी है कीर्ति - कौमुदी जो विश्व-बीच खेलती,
कराल - काल - वक्ष पर सहर्ष है कुहेलती ॥

बता दिनेश ! किस तरह स्वमातृ - ऋण अदा करूँ,
स्वजाति - धर्म - अर्चना सहर्ष मैं सदा करूँ।
तुम्हीं अनन्त काल से खगोल को हँसा रहे,
प्रकाश को तमिस्र से प्रसन्न हो बचा रहे ॥

सदैव नापते तुम्हीं असत्य - सत्य - व्यास को,
तुम्हीं पचा गए सदय महा प्रलय - विलास को।
असंख्य बाँह से सदैव मेदिनी जगा रहे,
सुकाम सत्य छाँटकर असत्य को भगा रहे ॥

जगो अनादि काल की समाधि आज छोड़कर,
जगो पतंग ! ऊद्ध्वंदेश का विमोह त्याग कर।
कि काँपने लगे त्रपा प्रमत्त म्लेच्छ - वंश की,
झुके नहीं ध्वजा कभी विशुद्ध सूर्य - वंश की ॥

कराल - काल - ज्वाल ले विशाल आज मौन हो,
त्रिकाल - हास - लास ले प्रकाश बीच मौन हो।
सहस्र - सिन्धु - ऊर्मि - जीभ काढ़ धर्म हाँफता,
अजस्र अश्रु - धारमय विपन्न धर्म काँपता ॥

परन्तु तुम उषा विलास में समुद विराजते,
अमन्द सान्ध्य गीत में सुहर्म्य - बीच राजते।
विदग्ध देह देश ले विशोक में कराहता,
स्वधर्म की ध्वजा लिये पड़ी मनोहरा हता ॥

सुना था बाप से कि तुम पतंग हो, प्रकाश हो,
असत्य बीच सत्य के स्वरूप हो विकास हो।
परन्तु आज देखता नरत्व में देवत्व है,
असंख्य कीट जीव में वीरत्व - स्वत्व - तत्व है ॥

[उन्नीसवाँ सर्ग

कि मिट रहे परार्थ के लिए शलभ समान है,
असंख्य जीव धर्म और स्वत्व के विधान है।
सदा जो राहु केतु से सशंक हो छिपा करे,
तो वह दिनेश क्या कभी स्वधर्म पर कृपा करे ॥

अपार जाति वीर इस महान यज्ञ में पचे,
परन्तपः हैं त्रस्त पर इधर न धीर हैं बचे।
तो किस तरह यह धर्म - नाव तुंग - सिन्धु पार हो,
हँसे अमन्द सत्य और पंथ का सुधार हो ॥

पिता चले गए स्वधर्म - बुद्ध - दीप बारते,
चले गये सपूत चार आरती उतारते।
हँसी जननि अनन्त में सुपन्थ को सवाँरती,
तो एक ओर धर्म है औ एक ओर भारती ॥

उधर विपन्न अरि - फणी इधर स्वजाति-लाज है,
उधर अधर्म - ज्वाल है इधर स्वधर्म - काज है।
उधर कुरान की शपथ, इधर पुरान की शपथ,
उधर असत्य दीन पथ, इधर धवल गिरीश-पथ ॥

बढ़ूँ सुहर्ष एक दोण जहान में महान है,
पढ़ूँ सुग्रन्थ शक्ति भर यह आज इम्तहान है।
लड़ूँ असत्य - मेघ से औ सत्य - द्वार खोल दूँ,
चूढ़ूँ अजान मौत पर विरोध - शक्ति तोल दूँ ॥

हिमाद्रि - वक्ष रोकता नहीं नदी - प्रवाह को,
अमर्ष है पचा नहीं सका ममत्व - प्यार को।
बँधा नहीं जयी कभी असत्य - मोह - पाश में,
तो मन्त्र फूक दूँ पड़ो स्वमातृ - पूत - लाश में ॥

जगे अनेक धीर-वीर सत्य - धर्म सिन्धु से,
भगे असत्य - स्वत्व - अंश आर्य-रक्त - बिन्दु से।
हँसे विजय कल्लोल - लोल बुद्ध आसमान में,
लसें स्वदेश शूरमा कृपा - कृपण - कृपाण में ॥

कहे न मुण्डमालिनी कि रक्त मैं न पा सकी,
कहे न शक्तिदायिनी कि शक्ति भर अघा सकी।
कहे न जग प्रलयंकरी कि किंकरी बनी रही,
स्वजाति पर स्वधर्म पर जवानियाँ तनी रहीं॥

उठा उहार - प्यार का वसुन्धरा निहार ले,
उठा शमय सनाथपार्श स्वमान पर निखार ले।
कि आज है न पर्व यह प्रसून - नृत्य - गान का,
कि आज है न पर्व यह अभुक्त - व्रत - विधान का॥

कि आज है न पर्व यह प्रिया - अतुल्य - प्यार का,
कि आज है न पर्व यह वसन्त के बहार का।
नहीं है पर्व यह कि हँस पड़े दिवम् सभा अभी,
कलप रही अनर्थ में स्वदेश की विभा अभी॥

बढो जयी! यह पर्व है लहू - लहू अनन्त हो,
चढ़ो जयी! हुँकार से भरा हुआ अनन्त हो।
मिले गले तभी कि जब उड़े स्वधर्म की ध्वजा,
मिले सतीश राम और रामराज्य की प्रजा॥

परन्तु पूछना अभी मुझे है क्रूर शाह से,
अनीति के विधान औ अनर्थ के प्रवाह से।
कि किस विधान से अबोध लाल वे हुने गए?
अनर्थ ईंट से बनी दिवाल में चुने गए?

न शत्रु थे न मित्र थे परन्तु क्या समझ लिया?
जो पाप की दिवाल में सपूत को छिपा दिया।
न पा सके मृगेन्द्र जो प्रताप - गान गा रहा,
अनल्प तव अनीकिनी समुद्र सम पचा रहा॥

कभी न तुम बढ़े प्रलय - नराच के विलास में,
सदा छिपे रहे कपूत! मद्य - मार्ग - लास में।
जो शक्ति थी तो क्यों नहीं मृगेन्द्र को पकड़ लिया,
निपतद्वकूल - कुल - कुसुम कदम्ब का मसल दिया॥

चले दिनेश म्लेच्छ की अनीति से आक्रान्त हो,
ढले दिनेश अनवरत - भ्रमण - थकान - श्रान्त हो।
यही वे सोचते चले कि अब न धर्म - ध्वंस हो,
स्वधर्म - तप्त - ताप से यह भस्म म्लेच्छ-वंश हो ॥

चलूँ गहन गिरीश के प्रशान्त - रम्य - अंक में,
तपूँ लगे कलंक न स्वधर्म के मयंक में।
महान - तप - प्रताप से स्वजाति को उबार लूँ,
गिरा हुआ स्ववंश - कीर्ति - दुर्ग मैं सुधार लूँ ॥

बिना न तप - प्रताप से स्वदेश है कभी जगा,
विना न ब्रत - विधान से असत्य-मोह है भगा।
विना न खड्ग - मान से प्रतानमान का तना,
विना न शीश - दान से विधान-स्वत्व का बना ॥

नहीं तो यह कलंक जाति - धर्म शुभ्र भाल का,
अथोर क्षति विशोक-पय पुराण-दग्ध-ज्वाल का।
कभी न धो सकेगा सिन्धु बिन्दु को उछालकर,
कभी न पूर्ति हो सकेगी रक्त-कीच काढ़कर ॥

बीसवाँ सर्ग

नबी खाँ ! गनी खाँ ! जियो धर्म - वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ।

घिरी थी गगन में सघन - मेघ - माला,
गरजती बरजती प्रलय - कामिनी थी ।
धरणि - वक्ष पर श्यामला शृङ्ग - माला,
खड़ी थी गले में लसी दामिनी थी ।।
चला जा रहा था सतत दीप जलता,
तिमिर को मसलता शिखर लाँघता था ।
हुई श्रान्त झंझा विभा से समर कर,
विकल हो अमंगल पहर हाँफता था ।।

नई कल्पना चेतना के रुचिर चित्र,
जल पर बनाती हँसी मातु भोली ।
नबी खाँ ! गनी खाँ ! जियो धर्म - वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ।।

कलित - कुंज में परिलसित शाख पर,
बैठ कोयल प्रभाती - स्वरों में रमी थी ।
ललित - लासमय हास स्वर्णिम छटा का,
विभा को हँसाता नहीं कुछ कमी थी ।।
सजग था जगत पर नहीं जानता था,
कि व्यापी समय ही कला को बनाता ।
बढ़ाकर हँसाकर सुयश के शिखर पर,
पुनः है प्रलय - पाठ उसको पढ़ाता ।।

[बीसवाँ सर्ग

उषा थी खड़ी ले कनक के कलश में,
लगाने जयी - भाल में पूत - रोली।
नबी खाँ, गनी खाँ! जियो धर्म - वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली॥

जयी! तुम विभीषण हो कलि की कलह में,
समझ जो गए कौन सोना खरा है।
असद् लोक में शोक को पान करके,
जो पावस के प्रातः सदृश जो हरा है॥
उसी को बिठाकर कनक - पालकी में,
युगल बन्धु! कन्धे पै ले जा रहे हो।
जो युग - युग धरा को जगाता रहेगा,
वही काम विजयी किये जा रहे हो॥

सिखा दो जो मद से भरे ऊँघते हों,
कि सबको जलाएगी माया की होली।
नबी खाँ, गनी खाँ! जियो धर्म - वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली॥

पवन - पूत से तुम लिये धर्म - गुरु को,
यवन - लोक - पाताल से ला रहे हो।
कि देकर तिलांजलि कलुष - वंश को अब,
धरा पर तुम सुग्रीव सा छा रहे हो।
लिये शीश पर सत्य का केतु उज्ज्वल,
अचल ध्रुव सदृश ध्यान में आ रहे हो।
या लोहे के खम्भे में नरसिंह बनकर,
धरम - पूत - प्रह्लाद को ला रहे हो॥

बढ़ो तुम अमर! सत्य के शुभ्र पथ पर,
भला क्या करेगी कलुष - काल गोली?
नबी खाँ, गनी खाँ! जियो धर्म - वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली॥

इलाका मुगल का मुगल ही मुगल थे,
जहाँ देखिए मौलवी - मौलवी थे।
सघन श्वेत दाढ़ी हृदय चूमती थी,
नयन सामने वे नबी ही नबी थे ॥
भला कौन ऐसी प्रबल है शिखा जो,
कि दाढ़ी की ज्वाला से पथ लाँघ जावे।
कदम किस बली का बना बालि-सा है,
जो रावण सदृश राज - बल को कँपाये ?

इसी काल के ज्वाल पर पाँव रखते,
चले जा रहे गुरु लिये धर्म-झोली।
नबी खाँ, गनी खाँ ! जियो धर्म-वीरो !
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

नहीं थी गुरू की वह भूषा शहीदी,
बने वे यहाँ उच्च के पीर से थे।
हृदय था बना आर्य के पूत - रज से,
प्रलय में बने वे अचल धीर से थे ॥
अगर पूछते मौलवी थे गरज कर कि,
किसकी सवारी चली जा रही है ?
विनत भाव से बढ़ युगल बन्धु कहते,
कि पीरो सवारी चली जा रही है ॥

इसी भाँति बढ़ती सतत पालकी थी,
छली जा रही थी मुगल - अन्ध-होली।
नबी खाँ, गनी खाँ ! जियो धर्म - वीरो !
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

बीहड़-कुशा - कंटकाकीर्ण पथ से,
युगल-बन्धु बढ़ते चले जा रहे थे।
विमल भाल रवि से विहँसते विभा में,
विटप भी मुदित हो खिले जा रहे थे ॥

[बीसवाँ सर्ग

बढ़ा जो हृदय सिन्धु सा ले जगत में,
भला वह कभी काल-कवालित हुआ है ?
चढ़ा जो दिया अस्थि पर-दुःख पर है,
भला बह कभी धीर विचलित हुआ है ॥

सदा लिख रहा नभ कनक-वर्ण में है,
उसी धन्य नर की सुधा-सिक्त बोली ।
नबी खाँ, गनी खाँ ! जीयो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

नहीं दीन का ख्याल तूने किया है,
बना दीन भ्राता तू ही दीन सा है ।
नहीं धर्म का ज्ञान जिस जीव में है,
बना बोझ मा का वह पशु हीन सा है ॥
कलित शारदी स्वाति-नीरद-पटल से,
धरा पर बिहँसती अनेकों हैं बूँदें ।
हँसा भाग्य जिसका बना शुभ्र सीपज,
अपर हो गईं वारि-धारा वे बूँदें ॥

यही गीत गाती शिथिल पंख मारे,
चली आ रही थी विहंगों की टोली ।
नबी खाँ, गनी खाँ ! जियो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

चली और आगे धरम की सवारी,
करम पंख पर धैर्य मुसका रहा था ।
विकट पंथ झुक कर चरण चूमता था,
पवन बाँह पर शौर्य लहरा रहा था ॥
कभी मेघ की शुभ्र माला गगन में,
सजल सीकरावलि सुआँचल बढ़ाती ।
थके न कभी ये धरम पूत भ्राता,
प्रखर ताप में रम्य छाया बनाता ॥

चली आ रही थी कनक-रश्मि-रथ पर,
चढ़ों स्वर्ग से बुद्ध आशा नवेली।
नबी खाँ, गनी खाँ जियो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तू ने चली धर्म - डोली ॥

रुको तुम नहीं लक्ष्य अब पाँव तर है,
विपद को खुशी में मधुरिमा भरी है।
झुको तुम नहीं सामने सिन्धु ही हो,
विजय - वल्लरी कौमुदी सी हरी है ॥
लिये हाथ में सद्य-माला बनाली,
चरण पर चढ़ाने झुकी आ रही थी।
आँचल बढ़ाये मुदित वीर - जननी,
सुतों को हँसाने चली आ रही थी ॥

पचा लो असद् को बचा लो निगम को,
ध्वनित हो रही थी यही धैर्य बोली।
नबी खाँ, गनी खाँ ! जियो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तूने चलो धर्म - डोली ॥

अचल-नेत्र से इसे हर्ष के अश्रु अविरल,
बढ़ाते जयी - पूत - पवि - पाँव धोने।
चले जा रहे थे धरम - क्षेत्र में वे,
करम - बाँह से कामना - बीज बोने ॥
दिखाई पड़ा सामने शर्वरी का,
कुटिल छोर जिसको अभी लाँघना था।
यही थी बनी पाप की कुण्ड सीमा,
जहाँ पर अभी पीर को जाँचना था ॥

हिली दीर्घ दाढ़ी भयद मौलवी की,
कि किसकी बढ़ी जा रही शान्त-डोली ?
नबी खाँ, गनी खाँ ! जियो धर्म-वीरो !
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

[बीसवाँ सर्ग

विनत भाव में रुक नबी खाँ बताये,
खुदा के फरिश्ते की यह पालकी है।
चले जा रहे उच्च के पीर मेरे,
खुदावन्द ताला ! नहीं जाल की है ॥
रुको यह सवारी जमी पै उतारो,
मजहब के बन्दों की भी जाँच होगी।
नहीं तुम सुने शाह-फरमान को क्या,
कि जाने न पावे वह गोविन्द ढोंगी ?

निकल कर किले से इधर ही चला है,
इसी राह से वह बढ़ावेगा टोली।
नबी खाँ, गनी खाँ ! जियो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म-डोली ॥

तभी उच्च के पीर ये सिद्ध होंगे,
जब मेरी रकाबी में भोजन करेंगे।
औ बधने के पानी को पीकर खुशी से,
यह दरवाजा मेरा जमीं पर करेंगे ॥
'बड़ी ही खुशी' यों कहा धर्म-गुरु ने,
भला कौन होगा जो भाई को भूले।
बड़ी खुशनसीबी हमारी जगी जो,
कि जंगल में भाई ! खिलाना कबूले ॥

समझ वह गया कि असल पीर है यह,
कहा कि अजीजो ! उठाओ यह डोली।
नबी खाँ, गनी खाँ जियो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

चला जो विपद से धरम को बचाने,
तो उसका धरम ईश ही है बचाता।
बढ़ा जो जगत हेतु गरदन नपाने तो,
उसकी प्रतिज्ञा प्रभू है निभाता ॥

डरो तुम नहीं हे अमर - बीज जग में,
बढ़ो काल के वक्ष पर पाँव धर कर।
जगा दो धरणि, व्योम, राजीव-दल को,
धरम-पंख पर तुम मरण-मंत्र पढ़कर ॥

बढ़े गुरु विपिन में लिये धैर्य-सम्बल,
युगल बन्धु लौटे लिये रिक्त - डोली।
नबी खाँ, गनी खाँ! जियो धर्म-वीरो,
दिया कन्ध तूने चली धर्म - डोली ॥

पुस्तकें समाज की अमूल्य निधि। अतः उनकी पूर्ण सुरक्षा आपका पवित्रतम दायित्व।

इक्कीसवाँ सर्ग

यह कैसी ध्वनि बुद्ध क्षितिज से आती है अविराम,
निर्झर - झर्झर - ध्वनित - दिगन्तर करता है आराम।
कमल-पटल-परिलसित-मंच पर गाता अलि-कुल गान,
फल पटला-आस्वाद-चपल पादप गाते जय गान ॥

शुद्ध-बुद्ध-चन्दन-चर्चित सा चमक रहा गिरि-भाल,
कलित-कुसुम-कलिकामय प्रमुदित हँसता है जग ताल।
कोरक निकुरम्बक कदम्बमय लसित प्रकृति का भेष,
मानस - कमल - विकास - हास से है माँ-अंक अशेष ॥

हँसता धीर-समीर-विचुम्बित सौरभ का संसार,
बजता कोक अशोक लोक में नियति-नटी का तार।
वकुल-कुसुम-कुल सुरभि-सुधा से करते हैं अभिषेक,
क्रीड़ा करते मधु-पय-पूरित सर में भानु अनेक ॥

दिनकर - कर - स्पर्श-चतुर्गुण हँसता पारावार,
चलता है स्वच्छन्द धरा पर जीवन का व्यापार।
घूम रहा है जन - पीडन - पातक - प्रभात सविनोद,
अपरिमेय आनन्द सजाता वनस्थली की गोद ॥

गूंज रहे स्वच्छन्द गगन में शिवमय श्रुति के मंत्र,
अनहद ध्वनि अविराम शंख की करती वधिर दिगन्त।
यज्ञ - धूम की घटा - पटल से शशि सम बने दिनेश,
धर्म - विजय का केतु शीश पर धारण किये नगेश ॥

वृन्त-वृन्त पर रश्मि लिख रही फलद राम का नाम,
मुदित चल रहा नभ-धरणी का सुखद सत्यमय काम।
सब सशक्त हैं सबको है अपने पौरुष का ज्ञान,
अंकित हैं सबके मानस में धर्म-कर्म वरदान ॥

चला गया जग से चुपके से यवन-वंश-अवतंस,
कही नहीं रह गया नीच के पंचतत्व का अंश।
मुट्ठी बाँध विश्व में आया गया हाथ ही खोल,
जग में उसने पुण्य त्याग कर लिया पाप ही मोल॥

तीन हाथ का कफन लपेटे चला गया चुपचाप,
चाहा हिन्दू - धर्म मिटा दूँ, नीच मिट गया आप।
चला पाप के हाथों से नोचने विमल आकाश,
उसके दम्भ - द्रोह - माया की स्वयं हो गई लाश॥

मद में चूर मोह से वेष्टित बना रहा नादान,
मिथ्या दम्भ-द्रोह का आसन सदा किया द्युतिमान।
चाहा मुट्ठी में रख लूँ वसुधा - सम्पत्ति लपेट,
धर्म-कर्म के महाव्रती को लूँ कर मध्य समेट॥

जिस भुजंगिनी - असि के बल पर करता रहा गुमान,
सोच रहा था चले न जग में कोई सीना तान।
सब पंकिल चरणों को चूमे विनत भाव दिन - रात,
सदा गूँजती रहे कान में मेरे यश की बात॥

खिल उठता था कमल सदृश सुन दीनों की चीत्कार,
चला भस्म करने देवालय ले फणीश फुत्कार।
उसका था आमोद सदा दुधमुहाँ लाल - बलिदान,
किसको लूटूँ किसे जला दूँ था उसका व्यवधान॥

जलती हुई लाज की होली से सेंका नित हाथ;
सोच कृतघ्नी ! क्या ले करके गया अन्त में साथ।
तेरी यह असि निष्प्रभ खाती जम्बुक - पद - आघात,
वह भुजंगिनी रोती कह कह जो कुछ की दिन-रात॥

कलुषित कूटनीति से तू ने सदा किया ही खेल,
कभी न होने दिया धर्म से सत्य - धर्म का मेल।
न्याय कलपती रही सदा तेरे शासन में नीच,
कायर तूने मन चाहा नित धर्म-कर्म का कीच॥

सींचा तूने नित कुरान को ले पुरान - उर - रक्त,
हो न सका वह अमृतमय हो गया और ही तिक्त ।
जिसके वर्ण - वर्ण से निकली शतधा होकर आग,
जिससे चला सुलाने मुझको नीच सो गया आप ।।

चमचम मणि-माला से वेष्ठित रत्न-जटित सिरताज,
कनक-सूत्र से रचित-विविध तेरा वह शाही राज ।
विविध-फेन-फेनिल-वारिधि-जल-तल सा वह उपधान,
बैठ सहारे जिसके तू करता शाही - फरमान ।।

वह भी तो रहा गया यहीं पर सोच रहा चुपचाप,
तू चल दिया कलपते वे सब लेकर उर में ताप ।
कितना बड़ा अभागा तू था किया कौन सा काम,
ये तेरे दृग बन्द देख सब पाते हैं आराम ।।

जीवन भर निर्दोष रक्त से किया सदा स्नान,
पल भर भी न किया तूने निज अन्त समय का ध्यान ।
मन्दिर जले, ढहे गुरुद्वारे, यही तुम्हारा जाप,
समझ न पाया यह पापी को खाता उसका पाप ।।

दीन हीन निर्दोष-रक्त - निर्मित तेरा प्रासाद,
बैठा है चुपचाप शीश पर लादे हुए विषाद ।
उसकी ईंट - ईंट से आती दीनों की चीत्कार,
गल - गलकर वह कुष्ट रोग सा होता भूमाकार ।

अघ - कवलीकृत - सदाचार का होता पुनः प्रचार,
द्वार - द्वार पर आर्य - धाम के हँसता बन्दनवार ।
दिग्दिगन्त के कर्ण - कुहर करते घंटे हैं बन्द,
ज्वलित हो उठे देवालय में घी के दीप अमन्द ।।

शारदाभ्र सा सत्य - गगन में उड़ता धर्म-निशान,
सप्तसप्ति के सप्ति-पाद से ताड़ित यवन-कुरान ।
अधोमुखी भू-पर सोता शंकित कम्पित अविराम,
ज्वालामुखी धधकता उर में तनिक नहीं आराम ।।

तेरे इस प्रयाण से जग को मिला नया उपदेश,
इस असार - संसार - धार में धुले न उज्ज्वल भेष ।
रक्त - घूँट को त्याग जगत में करो सुधा का पान,
तुम परार्थ पर मुदित चढ़ा दो अपना ही बलिदान ।।

स्वर्णिम यौवन के प्रसून से करो सुरभिमय देश,
जहाँ कहीं भी रहो किन्तु भूलो न ग्रन्थ - उपदेश ।
दीन-हीन को गले लगाकर-पूजा करो सहर्ष,
अहं शमनकर शौर्य - शक्ति से करो जाति-उत्कर्ष ।।

फूलो तुम न कभी वसुधा पर पाकर लघु अधिकार,
भूलो तुम न कभी पाकर माया-वाला-मधु-प्यार ।
रह जाता है यहीं तुम्हारा मिट्टी का सामान,
केवल अन्त समय का साथी धर्म-कर्म-व्यवधान ।।

शस्त्र-विजय क्षणभंगुर है इसका प्रमाण है शाह,
शास्त्र-विजय युग-युग तक रहता कहता काल सचाह ।
पृथ्वी किसकी हुई पूछ लो कहता है इतिहास,
बलि उपधान बनाये इसका चलते बने उदास ।।

कितनी बार कराल काल ने फेंका माया - जाल,
देती रही जवाब सबों का ठोंक - ठोंक कर ताल ।
फिर भी वह निज धर्म-धुरी पर रही सदा गतिमान,
पता नहीं छिप गये कहाँ माया-मोहित-अभिमान ।।

रवि-शशि भी चल रहे सदा से शिवमय नियमित चाल,
जिससे अब तक चमक रहा है मानवता का भाल ।
भूल चुका है मानव कितनी बार सत्य का पंथ,
करता जिसका निराकरण आ रहा धर्म का ग्रन्थ ।।

मानव ने मद में मारी है ईश - वक्ष में लात,
फिर भी आहत के मुख से निकली मंगलमय बात ।
सहलाया हन्ता के पद को और दिया परितोष,
फिर भी मानव हुआ कृतघ्नी भूला नहीं विरोष ।।

विगत आत्मा ! जहाँ कहीं हो मिले तुझे आराम,
हो तुम भी क्षन्तव्य क्योंकि यह भी तेरा था धाम ।
आओ तुम यदि पुनः जगत में मत करना वह काम,
जन-जन-सेवा बने तुम्हारे जीवन का व्यवधान ।।

मैं भी था जा रहा पूछने तुमसे केवल दो बात,
जिसका मेरे मर्मस्थल में था भीषण आघात ।
किस कसूर से चुने गए मेरे दो हृदय - कुमार ?
चली गई माँ स्वर्ग - लोक को सेती कारागार ।।

पूछ न सका बीच में ही तुम छोड़ दिए संसार;
पर जाओ है खुशी कि जग को छोड़ा अत्याचार ।
आनेवाला वंश सदा रक्खेगा इसका ध्यान,
पर - पीड़ा का शमन बनेगा उसका जीवन - दान ।।

तो अब उधर हमारा जाना है बिल्कुल बेकार,
क्यों न करूँ स्वीकार विपिन में वनस्थली का प्यार ।
गले - गले से मिल पादप करते अनुपम हैं स्नेह,
सब में है स्वच्छन्द - भावना सब हैं बने विदेह ।।

नहीं यहाँ पर रोग - शोक है, नहीं कपट - व्यवहार,
नहीं यहाँ पर अन्तर ज्वाला, नहीं दीन - चीत्कार ।
सबके मस्तक पर हँसता निज धर्म - कर्म का ताज,
फैला है सविधान ईश का मंगलमय साम्राज्य ।।

गाता निर्झर - झर्झर-ध्वनि में मस्ती से मधु - गान,
कुहू - कुहू के पंचम स्वर में पिक भरता है तान ।
कमल - पटल - परिलसित सरोवर हँसते हैं सविनोद,
कोक-लोक के शोक-विमोचन का हँसता सद्ग्रन्थ,
खग - कुल कुंज-कुंज में बैठा सुना रहा गुरु-ग्रन्थ ।।

इसी विविन में रहता है बन्दा वह वीर महान,
जन - जन गाते हैं जिसके पौरुष का अब तक गान ।
सुनता हूँ वह बना लिया है संन्यासी का भेष,
इन्द्रजाल का जाल फेंककर देता सबको क्लेश ।।

आया हूँ तो उससे भी मिलकर कर लूँ दो बात,
शायद सुनकर धर्म - दुर्दशा पहुँचे मर्माघात।
जाग उठे फिर से उसका वह क्षत्रियत्व अभिमान,
छोड़ सुमिरनी ले असि-ज्वाला करे देश–सम्मान ॥

●

बाईसवाँ सर्ग

सन्ध्या - वन्दन, ब्रह्म-विधान,
गायन - वादन-श्रुति-व्यवधान ।
कलित-ललित-लतिका- मुसकान,
सबसे वेष्टित हरित - वितान ।।

जगा रहा चिर सुप्त - विराग,
भगा रहा राजीव - अभाग ।
हँसा रहा ह्रद-सरित-तड़ाग,
लसा रहा योगासन - भाग ।।

सुधा - धारमय - पारावार,
सत्य - शान्तिमय नव - संसार ।
कैरव - हर्ष - विकास - प्रकाश,
चंचरीक का बीन - विलास ।।

मन्दिर-मन्दिर जय-जय-नाद,
कहीं न तिल भर दुःख-विषाद ।
मुखरित अटवी - अन्तर्नाद,
सुषमा का साम्राज्य अनादि ।।

निर्झर - झर्झर-ध्वनि अविराम,
लसित दिगन्तर का छवि-धाम ।
लीन विचुम्बन में सविनोद;
सौरभ - हरिताभामय गोद ।।

सकल चराचर चक्षु पसार,
निरख रहे गतिमय संसार ।
रिंग - तरंग - भृंग सविलास,
करता धीर - समीर तलाश ।।

मत्त - मतंगज - मदिर - प्रवाह,
खग-कुल - कूजित - वन्य-उछाह ।
करते प्रमुदित पान विशोक,
धन्य - धन्य यह तपमय लोक ॥

खेल रहे मिल सर्प - मयूर,
करके सहज स्वभाव सदूर ।
बाज साथ में बैठे कीर,
प्राण एक है युग्म शरीर ॥

मूषक और प्रसन्न बिलाव,
भूल हृदय का छद्म-दुराव ।
मिल कर करते हैं आराम,
यह सब है केवल तप-काम ॥

माया रोती दूर अधीर;
कम्पित स्वार्थ दुराव शरीर ।
निष्प्रभ लोलुपता का तीर,
धन्य तपोबल धन्य शरीर ॥

विन्ध्य-श्रेणियों का शुचि भाल,
हरिताभामय घूँघट डाल ।
लतिकामय कोमल कर खोल,
द्विज मुख से गुरु की जय बोल ॥

कनक-कलश-ह्रद लेकर हाथ,
झुकी आ रही श्रद्धा साथ ।
बढ़ता पय ले पवन सचाह,
शीतल रम्य बनाता राह ॥

कहता, "अटवी हुई सनाथ,
तीर्थराज आया गुरु साथ ।
लखते हुए विपिन व्यवधान,
गुरु थे मन्द - मन्द गतिमान ॥

अनति दूर पर था नव कुंज,
मन-मोहक मुद पाटल - पुंज।
बैठ प्रकृति के आँचल बीच,
रहा सौख्य - वन मन से सींच ॥

ऊर्ध्वमुखी अविरल अविराम,
व्योम - विचुम्बन में गतिमान,
श्यामा एक धूम्र की रेख,
गुरुवर कौतूहल से देख,

कैसी असित अकम्प लकीर;
रही सतत नीलाम्बर चीर,
नहीं; तपोबल से हो त्रस्त,
अटवी की विभावरी व्यस्त,

चली जा रही भू - तल छोड़,
जड़ - चेतन से नाता तोड़;
या अशान्ति का सागर हार,
खाकर श्रुति - मंत्रों की मार,

राग-द्वेष की ऊर्मि समेट,
अन्तस्तमस - कुभाव लपेट,
चली जा रही नभ की ओर,
प्रमुदित प्रज्ञा प्रान्त अछोर ॥

तर्क-वितर्क - जाल के मध्य,
बढ़ते जाते थे आराध्य।
शान्त कुंज में किये प्रवेश;
जो था सुख से मुदित अशेष ॥

वह कदली - कुल - कुंज मनोज्ञ,
था सुरेश सा अनुपम भोग्य।
समन्तात था उपवन एक,
जिसमें हँसते पुष्प अनेक ॥

पूर्व सुधामय - पय - आराम,
जिसमें कमल - पटल अभिराम ।
हँसता था सुन अलि-कुल-गान,
पुलिन-विचुम्बित - लता-वितान ॥

परितः कलिका - वन्दनवार,
या सुषमा का चन्दन - द्वार,
जिस पर किरणों की बिछलन,
रह - रह शाद्वल की मचलन,

बना हुआ था वन चित-चोर,
सौख्य-सिन्धु - उल्लसित अछोर ।
हो जाता था स्वर्ग निछार,
कितना सत्य - सुखद - संसार ॥

दक्षिण गिरिवर - उन्नत-भाल,
ज्यों फैला नवनीत विशाल,
निर्झर - झर्झर-ध्वनित दिगन्त,
विशद सीकारावली अनन्त,

हरित काछनी कटि में काछ,
रोमावलि सम लघु-लघु गाछ,
आसन मार लगाए ध्यान,
भजता सतत ईश का नाम ॥

करते ये सब नित अभिषेक,
गाते विरद विहंग अनेक ।
अन्तराल में कुटिया एक,
जहाँ राजता सजग विवेक ॥

सम्मुख उसके लघु मैदान,
पहने दूर्वादल - परिधान ।
था मनोज्ञ मृदु - रम्य - सपाट,
निम्ब-विटप-तल थो वह खाट ॥

जिस पर चलता टोना - मंत्र,
यह था मानवता - षड्यंत्र ।
उस पर यदि कोई अनजान,
सोने का करता व्यवधान,

तो वह जादू - वंचक - मित्त,
करता उसको भू पर चित्त ।
करता क्लेशित हाहाकार,
उसका नित का था व्यापार ॥

समझ गये गुरु सारा राज,
बन्दा का वह वंचक साज ।
हुए चतुष्पद पर आसीन,
जादू - टोना हुए मलीन ॥

मनोयोग से माधवदास,
कल-बल-छल में हुआ हताश ।
सोचा, निष्प्रभ जादू - बान ?
यह है कोई पुरुष महान ॥

विनत भाव में आया पास,
बोला, अब से मैं हूँ दास ।
कहाँ आपका प्रभुवर ! धाम,
क्षमा करें, क्या प्रभु का नाम ?

ब्रह्म - ज्ञानमय विहँसा भाल,
बोले गुरु, "मैं हुआ निहाल ।
वीर शिरोमणि - शौर्य - शरीर !
यह तेरा जादू - प्राचीर ?

देगा कभी विश्व को शान्ति ?
पड़ी जननि असहाया कान्त ।
और तुम्हारा यह जंजाल,
कैसे हो गर्वोन्नत भाल ?

समझ गया माधव गुरु-वेश,
जो हर रहे धर्म का क्लेश।
लिया विनत हो पद की धूल,
गुरुवर ! हुई बहुत ही भूल ॥

क्षमा करें जो हो उपदेश,
वही अकिंचन का हो भेष।
आज हुई यह कुटी सनाथ,
स्वयं भक्त - घर आये नाथ ॥

बोले गुरुवर, "माधव दास,
यह है माया - क्रूर - विलास।
इससे हो न जरा भी खिन्न,
आप नहीं हैं मुझसे भिन्न ॥

यहाँ सभी है उसके अंश,
सबके भीतर वह अवतंस।
वही चलाता गतिमय लोक,
इससे बनें न आप सशोक ॥

माधव ! आया मैं इस हेतु,
पंकिल होता है निज केतु।
सम्मुख यवनों का तूफान,
होते हैं बच्चे बलिदान ॥

गायों का होता बलिदान,
सम्मुख जलते वेद - पुरान।
मन्दिर - गुरुद्वारे द्युतिमान,
बनते नित मन्दुरी समान ॥

यवनों का यह उल्कापात,
आर्य - भवन जलते दिन-रात।
गरज रहे प्रतिपल अहिजात,
'हो न पुराण - वेद की बात' ॥

हैं जबान पर ताले बन्द,
होते अर्चन दीपक मन्द।
वधुओं का रोदन चीत्कार;
बूढ़ों का यह हाहाकार ॥

देख फट रहा नभ का वक्ष,
हँसता अघ माधव ! प्रत्यक्ष।
ग्रीवा - माला होती भंग,
शिला चूमती ज्वाल - तरंग ॥

काशी विश्वनाथ का धाम,
भस्मसात होता अविराम।
उठती छाती पर मसजिद,
सदा मनाती हंस-हँस ईद ॥

सोमनाथ भी हुए अनाथ,
कुछ भी नहीं रहा अब साथ।
भरते बैठे करुणा आह,
प्रमुदित है दिल्ली का शाह ॥

काँप रहा घंटों का नाद,
नाप रहा भू-व्योम विषाद।
ठंढे पड़े हवन के कुंड,
फिरते यवन झुंड के झुंड ॥

ऊग गई वेदी पर घास,
मन्दिर बना उलूक - निवास।
केवल झिल्ली की झनकार,
याद दिलाती वीना - तार ॥

बोलो चुप क्यों माधवदास,
मैं कह चुका जाति-इतिहास !
क्या यह तेरा ध्यान, समाधि,
मिटा सकेगी यह सब व्याधि ?

भूल गये अपना इतिहास ?
नभ - डाली पर वल्कल - हास ?
गण्डुलि पर जलनिधि का पान ?
व्रती दधीचि - अस्थि का दान ?

कुछ भी नहीं वंश की आन ?
कुछ भी नहीं धर्म का मान ?
जले धरा पर ग्रन्थ - पुरान,
आप लगावें बैठे ध्यान !

झुके देश का उन्नत शीश,
कटे केश लख मत्त फणीश ।
गरुड़ लगावे बैठा ध्यान,
यह कैसा माधव व्यवधान ?

मसले मत्त - मतंग प्रसून,
टपके माँ के दृग से खून ।
सिंह लगावे बैठा ध्यान,
केसे हो स्वधर्म - उत्थान ?

शोणित - सागर - जीभ पसार,
चाटे सब आचार - विचार ।
बैठ अगस्त्य लगावें ध्यान,
कैसे हो स्वधर्म - सम्मान ?

म्लेच्छ - घटा अम्बर को घेर,
करे तड़ित-असि से अन्धेर ।
झंझावात लगावे ध्यान,
भला बचे कैसे नभ - मान ?

बोलो अब न रहो तुम मौन,
इसका भागी होगा कौन ?
बोलो यह है किसका काम ?
जिससे बचे राम का नाम ॥

[बाईसवाँ सर्ग

यदि स्वदेश के सारे वीर,
जग-पीड़ा से कलान्त अधीर।
पाकर जंगल में एकान्त,
ध्यान लगाकर ढूँढ़ें शान्ति ।।

तो बोलो दीनों की नाव,
किस बल पर ढूँढ़ेगी ठाँव ?
माता किसको कहे सपूत,
जो बन जाय राम का दूत ।।

सीमन्तिनी - वीरता तात;
किसके लिये सजावे गात ?
कौन करे सिन्दूरी - दान;
जिससे हो उसका सम्मान ।।

बोलो कब के क्यों हो मौन ?
कहो जल रहा किसका भौन ?
कौन करेगा फिर निर्माण ?
किसका होगा नव - कल्याण ?

कौन करेगा शंख - निनाद ?
कैसे चूमें नभ प्रासाद ?
कौन पढ़ेगा श्रुति का मन्त्र ?
कौन करेगा जाति-स्वतन्त्र ?''

सुनकर गुरु का यह उच्छ्वास,
चित्र लिखा सा माधव दास।
बोला क्षत्रियत्व का धर्म,
''अभी न धूमिल है वह वर्म ।।

जिससे हाथ जोड़कर काल,
सदा झुकाता था निज भाल।
अब से नहीं तपस्वी - भेष,
अभी करेंगे माँ - अभिषेक ।।

अभी उटज में है वह बाण,
जिसने किया रक्त का पान।
अभी धधकता है वह क्रोध,
जिससे चमका था प्रतिशोध ॥

कितनी बार समर के बीच,
उसने काढ़ा अरि-उर-कीच।
फिर ये म्लेच्छ - प्रमत्त - पतंग,
करते धर्म - दीप को तंग ॥

हम सबके रहते यह हाल,
जननी पड़ी अशक्त बिहाल ?
तो इस जीवन को धिक्कार,
होगा जाति - धर्म - उद्धार ॥

मैंने समझ देश को शान्त,
ढूँढ़ा था निर्जन एकान्त।
जहाँ बैठकर अन्तिम बार,
लूँ भविष्य का भाग्य सुधार ॥

समझ आर्य को बकरा-बाल,
ठोंक रहे हैं दुमर्द ताल ?
लो उठती है यह तलवार,
होगा अब स्वधर्म - उद्धार ॥"

इतना कहकर माधव दास,
उठा लिये वह प्रलय - विलास।
बोले, "गुरुवर दें आदेश,
शौर्य-शक्तिमय हो यह देश" ॥

द्विगुणित हुआ धर्म - गुरु - वक्ष,
देख समुन्नत उसे प्रत्यक्ष।
बोले गुरु, "यह है व्यवधान,
पहले करो अमृत का पान ॥

यह है नया खालसा पंथ,
यह है अपना उज्ज्वल ग्रन्थ।
पहले करो इसे स्वीकार,
तब लो यह उन्मुक्त कटार ॥

खेने चले धर्म की नाव,
कभी न होवे दीन - दुराव।
सबको लेकर अपने साथ,
जाति - धर्म को करो सनाथ ॥

वीर नवाकर गुरु को माथ,
ले अमृत श्रद्धा के साथ।
करते हुए ग्रन्थ - सम्मान,
मुदित किया अमृत का पान ॥

गुरु ने ग्रन्थ मंत्र के साथ,
दिया खड्ग माधव के हाथ।
बोले, "अब से बन्दा नाम,
करो जयी ! पूर्वज सा काम ॥

पथ से हट जावें शशि-भानु,
पर न बुझ जग-धर्म-कृशानु।
यही हमारा है वरदान,
सदा रहे इसका ही ध्यान ॥"

दे उपदेश, मुक्त करवाल,
तन को शौर्य-स्वत्व का ज्वाल।
हुआ धर्म-गुरु को परितोष,
हुआ व्योम - भू को सन्तोष ॥

सोचे, है शिवमय एकान्त,
मुसकाती दल-दल पर शान्ति।
वत्सर तक हो यहीं निवास,
ढूँढ़ूँ तपमय सत्य - प्रकाश ॥

रहने लगे वहीं सविनोद,
हुई सनाथा वन - श्री - गोद ।
भक्त - जनों की मुदित जमात,
पगी अर्चना में दिन - रात ।।

पुलकता है मानव जीवन का दर्पण ।
हम करें उसे सम्पूर्ण सुरक्षा अर्पण ।।

०

तेईसवाँ सर्ग

विश्वकर्मा के करों से रचित वह वन-भाग,
सत्य-व्रत की सत्य-आभा में गया अब जाग।
कमल पर कमला हँसी विमला विजन का भाल
धो रही थी विमल कर से दे, रहा दल ताल ॥

शारदा सी शारदा जग सारिका सानन्द,
गा रही थी शरद कुंजों में निगम का छन्द।
चन्द्र-चुम्बन-चतुर-चारु-शिखर-निकर द्युतिमान,
शुभ्र-निर्झर के अधर-से गा रहे जय-गान ॥

ध्वज पटल निर्मथित करता व्योम का अभिमान,
भेजता वह पवन से था धर्म-गुरु-वरदान।
कौन ऊर्जस्वल धरा पर मोह या बलिदान,
पुष्प शय्या या समर में शस्त्र का उपधान ॥

जो बढ़ा विश्वास का सम्बल सँभाले हाथ,
जो चढ़ा ध्रुव-धैर्य का करवाल लेकर साथ।
खे दिया नौका मुदित तूफान को कर पान,
लिख गया स्वर्णाक्षरों में केतु पर बलिदान ॥

कौन अम्बर ! कौन शाश्वत है यहाँ सविनोद ?
हँस रही लेकर जिसे किरणावली नित गोद ॥
क्या तरल अंबुधि-हृदय पर बुलबुले का लास,
याकि उसकी शीत से सिंचित पवन मधुमास ?

तू बता रवि देखता है आदि से संसार,
भस्म करके शर्वरी का मोह - पारावार।
इस प्रभंजनमय धरातल पर चिरन्तन कौन,
किस गहन - चिन्तन - विपिन में है हिमालय मौन ?

बह रहा अविराम तन से लसित स्वेद - प्रवाह,
या धरा पर आ रहा है स्वर्ग - सौख्य-उछाह ।
हँस रहा है शुभ्र तन पर सत्यमय गुरु - नाम,
वर्तुलित उल्लास पर है बुद्ध चारों धाम ॥

सृष्टिकर्ता ने पवन पर ला सुयश का सार,
क्षीरनिधि में सानकर उल्लसित तथ्याकार ।
धर्म - भू के चक्र पर जो है बना गतिमान,
कौमुदीकर से किया किया अचलेश का निर्माण ॥

सोचता चुपचाप है वह नियति का व्यवधान,
लय - प्रलय की बाँह पर बैठा जगत म्रियमाण ।
आप बैठी शून्य में फैला प्रवंचन - जाल,
नाचती भ्रम - पुत्तली देकर मृदुल कर - ताल ॥

झूमते मद-मत्त मानव मानकर निष्णात;
चूमते उल्लास - तल्लज - पाटली - मृदु गात ।
कामना की बाँह से बढ़ते पकड़ते स्वर्ग,
अन्त में बढ़ नियति कहती भूमि है अपवर्ग ॥

कर्म के सित पंख पर चढ़कर किया क्या काम ?
धर्म के प्रासाद में क्षण भर लिया प्रभु - नाम ?
प्राण के ही मोह में ऐंठा रहा दिन - रात !
देखकर अन्तिम शिखर अब क्यों रहा है काँप ?

बढ़ चलो आगे दिखाऊँ कीर्ति का इतिहास,
चूमता अपवर्ग को है सत्य - सिन्धु-विलास ।
वीर-पूजा कर रही सीमन्तिनी करवाल,
सो रहे निज रक्त से रंजित बना नभ - भाल ॥

शान्ति की है सेज उस पर ये जगत - उपमान,
सो रहे राधेय हैं ले सत्य का सामान ।
गुनगुनाता घूमकर कुरुक्षेत्र का वरदान,
चूमती पद सिद्धियाँ हैं, बाण का उपधान ॥

[तेईसवाँ सर्ग

व्योम से किरणें उतर कर भूमि पर सानन्द,
गा रही है विरुध पर बैठी निगम का छन्द।
स्वर सुरभि के यान पर चढ़कर मृदुल गतिमान,
कह रहा है देख लो यह वीर - वन्द्य प्रयाण ॥

कर्मयोगी का भवन है युद्ध - अम्बुधि - धाम,
धर्मयोगी का वसन है शौर्य - स्त्रत्व ललाम।
हास उसका है अभय रण यज्ञ का व्यवधान,
लास उसका है जगत में कीर्ति-गढ़-निर्माण ॥

वीरता - धन - चर्चिता - असि - चंचला-मुसकान,
धीरता - धन को लिये गाता प्रलय का गान।
शोण - शोणित - शोख-चन्दन से सजाकर भाल,
ठोंकता अमरत्व पर बढ़ काल से है ताल ॥

गुरु - नयन - गोलक निरखकर काँपता आकाश।
शूलि से शूलाग्र पर करता स्वधर्म - प्रकाश।
दीन - जन - मन-मन्दिरों में वह लगाता ध्यान,
क्षीण-जन-तन को सदा करता रुधिर का दान ॥

जो पड़ा असहाय पथ पर सजल नयन पसार,
देखता जो है अकिंचन अपर मुख मन मार।
बन लकुटि उस दीन की कर से दुखी कर थाम,
स्नेह का सम्बल थमा देता सुखद है धाम ॥

दीन - बन्धु सदा जयी के भूमि हो या स्वर्ग,
दीन - सेवा ही जयी का विश्व में अपवर्ग।
दीन का सन्तोष ही है वीर का सन्तोष,
दीन के ही रोष से जगता जयी का रोष ॥

रुग्ण - शय्या पर नहीं होता नरेन्द्र-प्रयाण,
फूल - शय्या पर नहीं होता नरेन्द्र - बिहान।
कह रहे युग से यही हैं वीर के आख्यान,
धीर ईसा शून्य से देते यहीं वरदान ॥

वीर - रव - सुन काँपता दिल्ली-मदान्ध-विलास,
धीर - रव सुन थरथराता यवन-खड्ग-विलास।
देख खतरे में पड़ा अब भूमि पर इस्लाम,
बढ़ चले अब नीच करने छद्मवेषी काम॥

दो पठान चले बनाकर खालसा सा भेष,
वीर-माँ के वीर-सुत का काम करने शेष।
ढूँढ़ते पहुँचे विपिन में धर्म - गुरु के पास,
पान करता था जहाँ पर सत्य दम्भ - विलास॥

भक्त हैं यह जानकर गुरु ने किया सत्कार,
भक्ति का सम्बल लिये करने लगे व्यापार।
नित्य गुरु के साथ ही रहने लगे सविनोद,
भक्त के ही मोद में था धर्म - त्राता - मोद॥

ढूँढ़ते दोनों कृतघ्नी थे सदा यह ठाँव,
बस जहाँ पर वे चलावें छद्मवेषी दाँव।
एक दिन दोनों रहे थे धर्म - पद को चाँप,
और काजल का अचल नभ को रहा था नाप॥

रात आधी हो चली था बन्द जग - व्यापार,
बैठ नभ में मंत्रणा करने भविष्य विचार।
अनिल भी दिन के भ्रमण से हो निशा में क्लान्त,
पल्लवों के बीच में था ढूँढ़ता एकान्त॥

सो चली चंचल-लहर सर-वक्ष पर सानन्द,
अर्चना के दीप भी अब हो चले थे मन्द।
सान्ध्य-वन्दन से निवृत हो शावकों के संग,
सो रहे थे घोसलों में अभय - मस्त - विहंग॥

सो गये गुरु भक्त जन को दे सुखद, उपदेश,
शर्वरी का प्याप्त था नभ-भूमि तक आदेश।
जागते दो थे कृतघ्नी ले हृदय में पाप,
घात में बैठे गुरू के पार्श्व में चुपचाप॥

एक ने कटि से निकाली कलुष - युक्त कटार,
लक्ष्य कर गुरु-वक्ष पर बढ़कर चलाया वार।
भाग्य का निज धर्म का हन्तक न था वह वार,
जागकर गुरु ने उठाई शक्ति सी तलवार ॥

एक ही असि वार में हन्तक हुआ दो टूक,
मारने गुरु को चला खुद ही गया वह चूक।
भक्तजन आये वहाँ उद्विग्न हो तत्काल,
देखकर गुरु-वक्ष को निज रक्त से ही लाल ॥

शीघ्र ही टाँका लगाने का हुआ व्यवधान,
घाव से हो स्वस्थ गुरु देने लगे वरदान।
वन्य - श्री का भाग्य था जो हँस पड़ा अवतंस,
राज - श्री के भस्म औषधि से जगा निज वंश ॥

धर्म - कर्म - प्रचार का चलने लगा व्यापार,
भक्तजन आते लिये श्रद्धा - कुसुम का हार।
पूजते गुरु - पाँव को मिटती हृदय की प्यास,
रवि सदा लिखता किरण के हाथ से इतिहास ॥

पाँच मन का था शरासन धर्म गुरु के पास,
जो पढ़ाता दर्शकों को शौर्य का इतिहास।
एक दिन कुछ भक्तजन आए कुटी के पास,
ग्रन्थ के पीयूष से अपनी मिटाकर प्यास ॥

धर्म के अवतंस से बोले विनय के साथ,
"यह धनुष किसका पड़ा है, हे हृदय के नाथ !
देखने के लिये है या छूटते हैं बाण ?
या पड़ी भू पर सुनाती शौर्य का आख्यान ?"

धर्म - गुरु मुसका पड़े मानो हँसा आकाश,
छा गया क्षण में दिगन्तर तक प्रभा का हास।
देख कौतूहल गुरू कहने लगे सानन्द,
झड़ रहा मानो सुधा - सिंचित - सुमन-मकरन्द ॥

"इस धनुष से भी किया जाता अघों का नाश,
यवन - तन - घन चीरकर देती सदैव प्रकाश।"
विनत हो सबने कहा शुचि अर्चना के साथ,
"देखना हम चाहते हैं कोन है वह हाथ ?"

यवन - वन - दानव - दहन का जग पड़ा उत्साह,
विविध आयुध-मुष्टि पीड़न-मुष्टि - शक्ति - प्रवाह।
बढ़ चली धोने शिरोमणि शौर्य का शुचि-भाल,
क्षत्रियत्व - युगल - नयन क्षण में हुए जग लाल ॥

धर्म-गुरु ने कस प्रत्यंचा दी गगन में तान,
और भुज-बल से चढ़ाया वज्र सा निज बाण।
गूँजने नभ में लगा वीरत्व का जयगान,
भक्त-जन-मन में जगा निज जाति का अभिमान ॥

कुछ नहीं गुरु ने किया निज घाव की परवाह,
बल पड़ा, टाँका फटा, निकला लहू - प्रवाह।
भक्त - जन बोले 'गुरू ! फिर से करूँ उपचार',
देख सबकी ओर बोले, 'है दवा बेकार' ॥

भक्तजन ! यह है हमारा अन्त का उपचार,
पर सदा बढ़ता रहे यह धर्म का व्यापार।
प्राण-दीपक से हँसे यह सत्यमय गुरु-धाम,
आप सबको वंश का रखना सदा है नाम ॥

वीर बन्दा ने उठाया है जयी करवाल,
एक हो चमके सदा यह धर्म - भू का भाल।
ग्रन्थ की रक्षा सबों के जन्म का कर्तव्य,
सत्य - पथ पर धर्ममय सबका बने गन्तव्य ॥

कह सके इतना गुरुजी हो गये फिर मौन,
रो पड़ा कहकर गगन विजयो धरा पर कौन ?
चल पड़े प्राची-दिशा अखिलेश भी सविषाद।
धर्म - गुरु का रह गया अब कीर्ति का प्रासाद ॥

सार्वजनिक पुस्तकालय सरदारशहर
अवाप्ति संख्या 16625
वर्ग संख्या 891.431

अन्य-विशिष्ट प्रकाशन

१८५७ का भारतीय स्वातन्त्र्य समर	वीर सावरकर	१८.००
हिन्दुत्व	,, ,,	३.५०
क्रांतिकारी चिट्ठियाँ	,, ,,	२.५०
हिन्दूपद पादशाही	,, ,,	६.५०
देश है वीर जवानों का भारत चीन युद्ध-१		४.५०
,, ,, भारत पाक युद्ध-२		४.५०
,, छात्र संस्करण		२.५०
युद्ध और शान्ति गुरुदत्त (दो भाग)		१२.००
युगपुरुष नेहरू के संकल्प		३.२५
सत्यमेव जयते (बाल साहित्य) सचित्र		१.७५
भावी रक्षक देश के (,, ,,)		१.००
कारवाँ बढ़ता जाएगा (नाटक)		२.००
यात्री का परिचय (उपन्यास)		५.००
महान नागरिक कैसे बने		३.५०
साहित्यकारों के विनोद		२.५०
विद्यापति के सुभाषित (अप्राप्त)		
गुरुदेव विद्यार्थियों से	(रवीन्द्र साहित्य)	२.००
समाज राजनीति	,, ,,	३.५०
धर्म और साहित्य	,, ,,	३.००
रवीन्द्र के श्रेष्ठ नाटक	,, ,,	४.००
,, का हास्य विनोद	,, ,,	समाप्त
काबुल वाला तथा अन्य श्रेष्ठ	,, ,,	
कहानियाँ		४.७५
लाल बहादुर शास्त्री भाग-१		४.००
प्रधान मन्त्री भवन से ताशकन्द भाग-२		२.५०
घर का नरक (उपन्यास)		२.७५
प्राथमिक चिकित्सा एवं जन-प्रतिरक्षा (First AID)		२.००

राजधानी ग्रंथागार नई दिल्ली-१४

59—H—IV—लाजपतनगर

ਸ੍ਰੀ ਗੁਰੂ ਗੋਬਿੰਦ ਸਿੰਘ

(ਜੀਵਨੀ)

राजधानी की परम्परा